आ ग म - शा स्त्र

अथवा

बुद्धोत्तर-वेदान्त

अनुवादक

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

प्रकाशक

महाबोधि सभा, कलकत्ता

प्रकाशक :

देवप्रिय वलीसिंह

मंत्री,

महाबोधि सभा, कलकत्ता

● ● ●

मूल्य—

डेढ़ रुपया

● ● ●

मुद्रक :

मोहनलाल भट्ट

राष्ट्रभाषा प्रेस, वर्धा

● ● ●

श्रद्धा-मूर्ति
भरत सिंह उपाध्याय
को

प्रकाशकीय

प्राचीन दार्शनिक साहित्य में गौड़पादाचार्य्य कृत आगम-शास्त्र का एक अपना स्थान है। शंकराचार्य्य की विचार-सरणी को समझने के लिये और उनके विचारों की मूल उपादान सामग्री के स्रोत तक पहुँचने के लिये आगम-शास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है।

हमें अपने पाठकों को यह सूचना देते विशेष हर्ष होता है कि भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने ऐसे दुरूह ग्रन्थ का हिन्दी अध्ययन तैयार कर हमें उसे प्रकाशित करने का अवसर दिया है, जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

हम अपनी केन्द्रीय सरकार के भी उतने ही कृतज्ञ हैं कि जिसकी आर्थिक सहायता के बिना शास्त्रीय-ग्रन्थों तथा उनके अनुवादों को छापने की अपनी योजना को हम कभी कार्यान्वित न कर सकते।

हमें आशा है कि इस चार हजार रुपये के वार्षिक अनुदान की सहायता से हम आगे भी दूसरे शास्त्रीय-ग्रन्थ तथा उनके अनुवाद पाठकों की भेंट कर सकेंगे।

आशा है इस पवित्र कार्य्य में हमारे पाठक हर तरह से हमारे सहायक सिद्ध होंगे।

४ ए, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट,
कलकत्ता

मंत्री
महाबोधि सभा

प्रस्तावना

इस से पहले कि माण्डूक्य उपनिषद् पर लिखी हुई 'आगम शास्त्र' नाम से प्रसिद्ध, श्रीमत् गौड़पादाचार्य्य की कारिकाओं की चर्चा की जाय, स्वयं माण्डूक्य उपनिषद् ही विचारणीय विषय ठहरता है।

यूं माण्डूक्य उपनिषद् 'ओं इत्येद् अक्षर' से आरम्भ करके 'य एवं वेद' तक की बारह छोटी-छोटी खण्डिकाओं को ही माना गया है। काफी प्राचीन समय से एक मत यह भी रहा है कि "आगम-शास्त्र" का प्रथम परिच्छेद भी 'माण्डूक्य उपनिषद्' का ही अंश है।

क्या ये छोटी-छोटी बारह गद्य खण्डिकायें ही माण्डूक्य उपनिषद् हैं, अथवा इन की व्याख्या मानी जाने वाली 'आगम-शास्त्र' के प्रथम परिच्छेद की २९ कारिकायें भी ? श्री विधुशेखर भट्टाचार्य्य ने इस प्रश्न का गम्भीर विवेचन करके यह निष्कर्ष निकाला है —

(१) "आगम-शास्त्र" के प्रथम परिच्छेद की कारिकायें 'माण्डूक्य-उपनिषद्' की व्याख्या नहीं हैं।

(२) यह माण्डूक्य-उपनिषद् ही उल्टा इन कारिकाओं पर आधारित है।

(३) यह माण्डूक्य-उपनिषद् "आगम-शास्त्र" के प्रथम परिच्छेद से भी पीछे की रचना है।*

अब प्रश्न पैदा होता है कि क्या "आगम-शास्त्र" के अन्तर्गत गिने जाने वाले चार परिच्छेद किसी एक शास्त्र के चार परिच्छेद हैं; अथवा चार भिन्न-भिन्न कृतियों को ही एक शास्त्र के अन्तर्गत संग्रह कर दिया गया है ? इन दोनों मतों में यह द्वितीय मत ही अधिक मान्य है कि ये चारों परिच्छेद गौड़पादाचार्य्य की चार भिन्न-भिन्न कृतियां हैं, जिन्हें एक ही 'आगम-शास्त्र' के अन्तर्गत संग्रहीत कर दिया गया है।

यह भी मानने के पर्य्याप्त कारण हैं कि आगम-शास्त्र की अनुश्रुति भी इस के कुछ अंशों को खा गई है, और नहीं तो इस के पाठ-भेदों में काफी हेर-फेर हुआ है।

---

* देखो विधुशेखर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित 'आगम-शास्त्र' की भूमिका पृष्ठ ४६।

यह 'आगम-शास्त्र' एक से अधिक नामों से विख्यात है। कोई कोई इसे 'माण्डूक्य-कारिका' कहते और मानते चले आये हैं। ऐसा मानने का कोई यथार्थ कारण प्रतीत नहीं होता। कोई इसे 'गौड़पाद कारिका' कहते हैं। यह 'आगम-ग्रन्थ' या 'उपदेश-ग्रन्थ' भी कहलाता ही है। कुछ अपेक्षाकृत लम्बे नाम-करण भी हैं जैसे माण्डूक्य-वार्तिक; माण्डूक्योपनिषद्-गौड़पद-व्याख्यान अथवा गौड़पदीय-कारिका। कभी-कभी संक्षिप्त नामकरण भी—गौड़पदीय। इसका एक नाम 'माण्डूक्य-शाखा' भी है ही।

और इसका एक नाम है "वेदान्त-मूल"। हमें यह नाम बहुत सार्थक जंचता है; शंकराचार्य्य के 'वेदान्त' की मूल उपादान-सामग्री इसी ग्रन्थ में व्यक्त विचारों से ग्रहण की गई प्रतीत होती है।

शंकराचार्य्य का निश्चित समय अज्ञात होने पर भी यह निश्चित ही है कि गौड़पादाचार्य्य शंकराचार्य्य से पूर्व हुए हैं। गौड़पादाचार्य्य का समय चतुर्थ-शताद्वी से पूर्व नहीं हो सकता और पांचवीं-शताद्वी के बाद नहीं। शंकराचार्य्य का समय सातवीं-आठवीं शताद्वी माना जाता है।

परम्परा गोविन्द को शंकराचार्य्य का गुरु और गौड़पादाचार्य्य को गोविन्द का गुरु मानती है। इस प्रकार गौड़पादाचार्य्य शंकराचार्य्यके दादा-गुरु ठहरते हैं। तीन सौ वर्ष के सुदीर्घ काल की ओर देखते हुए यह असम्भव प्रतीत नहीं होता कि इस गुरु-शिष्य-परम्परा की कोई कड़ी विलुप्त हो गई हो, अथवा परम्परा ने प्रधान आचार्य्य-त्रय की ही स्मृति बनाये रखना पर्य्याप्त समझा हो।

यद्यपि गौड़पादाचार्य्य को और भी कुछ ग्रन्थों के रचयिता होने का श्रेय दिया जाता है, किन्तु यथार्थ में यह 'आगम-शास्त्र' ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो निश्चयात्मकरूप से गौड़पादाचार्य्य की कृति माना जा सकता है।

प्रश्न पैदा होता है कि गौड़पादाचार्य्य को अपने इस शास्त्र की सामग्री कहाँ कहाँ से प्राप्त हुई? तीन दिशाओं की ओर स्पष्ट अंगुलि-निर्देश किया जा सकता है (१) अनुश्रुति—वेद तथा उपनिषद् (२) आचार्य्य-गण अथवा आचार्य्य-वाद (३) बौद्ध ग्रन्थ।

जहाँ तक अनुश्रुति का सम्बन्ध है, हम वेदों की एक प्रकार से उपेक्षा ही कर सकते हैं, क्योंकि मात्र दो स्थलों पर वेदों का उल्लेख हुआ है। वह भी एक ही कारिकामें। तृतीय परिच्छेद की २४ वीं कारिका है—

३

नेह नानेति चाम्नायाद् इन्द्रो मायाभिर्इत्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥२४॥

[शास्त्र (= आम्नाय) के इस कथन से कि 'यहाँ नाना नहीं है,' और इस विरोधी-कथन से कि 'इन्द्र माया के द्वारा' यही [समन्वयात्मक अर्थ निकलता है कि वह 'अजन्मा' होने पर भी 'माया' के कारण जन्म ग्रहण करता (प्रतीत होता) है ॥३—२४॥]

इस कारिका में अनुश्रुति के जिन प्रमाणों की ओर संकेत हैं वे वेदों तथा उपनिषदों में दोनों में ही उपलब्ध होने के कारण यह कहना कठिन है कि वे वेदों से लिये गये हैं अथवा उपनिषदों से ?

फिर ऐसे उद्धरण भी अधिक नहीं हैं, जिन्हें हम निश्चयात्मक रूप से उपनिषदों से ही लिया गया कह सकें । कुछ इस प्रकार हैं—

(१) तृतीय परिच्छेद (कारिकायें १२, २४, २५, २६, ३६)

(२) तृतीय परिच्छेद (कारिकायें ११, २३)

कुछ अन्य स्थलों में भी उपनिषदों की ओर स्पष्ट संकेत है। जो बात विशेष ध्यान देने की है वह यह है कि आगम-शास्त्र के सब से बड़े परिच्छेद और सब से महत्वपूर्ण परिच्छेद अर्थात् चौथे परिच्छेद में एक भी वैदिक संकेत नहीं है ।

जहाँ तक आचार्य्य-गण या आचार्य्य-वादों की बात है, कुछ आचार्य्यों वा आचार्य्य-वादों की ओर निश्चयात्मक रूप से संकेत है, जो गौड़पादाचार्य्य के समय में काफी प्रतिष्ठा-प्राप्त रहे होंगे, किन्तु बाद में अप्रधान बन गये ।

अपने आगम-शास्त्र की उपादान-सामग्री के लिये गौड़पादाचार्य्य उपनिषदों में से विशेष रूप से एक मात्र वृहदार्ण्यक उपनिषद् के ऋणी हैं, अन्यथा ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ग्रन्थ की लगभग सारी उपादान सामग्री बौद्ध-ग्रन्थों से ही ली गयी है ।

गौड़पादाचार्य्य बौद्ध विचारों से इतने अधिक प्रभावित रहे प्रतीत होते हैं कि उन्हें परम्परा से वैदिक मानकर भी हम विचारों की दृष्टि से 'बौद्ध' ही मान सकते हैं ।

लगता है कि शंकराचार्य्य भी एक हद तक इसी विचार-सरणी के अनुयायी रहे हैं और उन्हें अपने विचारों की मूल-उपादान-सामग्री गौड़पादाचार्य्य की ही विचार-परम्परा से हाथ लगी है ।

यहाँ विचारणीय-विषय गौड़पादाचार्य्य हैं, न कि उनके शिष्यानुशिष्य शंकराचार्य्य। इस लिये हम अपनी मर्य्यादा का अतिक्रमण अयोग्य मानते हैं।

गौड़पादाचार्य्य के 'आगम-शास्त्र' के चार परिच्छेद हैं, अथवा यह भी कह सकते हैं कि गौड़पादाचार्य्य की चार स्वतन्त्र कृतियों के समुच्चय का नाम 'आगम-शास्त्र' है। चौथा परिच्छेद 'अलात-प्रकरण' तो निश्चयात्मक रूप से एक स्वतन्त्र कृति प्रतीत होता है।

आगमशास्त्र का 'पहला प्रकरण' 'आगम' ही कहा गया है। उसमें केवल २९ कारिकायें हैं। 'आगम' का आरम्भ एक दम अकस्मात् सा हुआ प्रतीत होता है अथवा इस की आरम्भिक कारिकायें जाती रही हैं। इस 'आगम' में 'विभु,' 'तैजस' और 'प्रज्ञा' का भेद स्पष्ट किया गया है। शब्दावलि अबौद्ध होने पर भी इस विवेचन में कुछ भी अबौद्ध नहीं।

'विभु,' तैजस और प्रज्ञा के अतिरिक्त एक चौथी अवस्था का भी आगे चलकर उल्लेख किया गया है, जिसे 'तुर्य' कहते हैं।

आगे चलकर अ उ, म वाली 'ओंकार' की विश्लेषणात्मक व्याख्या है। माण्डुक्य-उपनिषद् इसी अंश का गद्यरूप प्रतीत होता है।

यह ग्रन्थ अथवा इस परिच्छेद की शब्दावली निश्चयात्मक रूप से वैदिक है और अद्वैतवादी-वैदिक है। इस 'आगम-प्रकरण' और 'माण्डुक्य-उपनिषद्' का कुछ अंश इतना समान है कि असन्दिग्ध रूप से दोनों को परस्पर एक दूसरे का गद्य-पद्य रूप कहा जा सकता है।

दूसरा प्रकरण पहले प्रकरण से कुछ अधिक लम्बा ही है। पहले प्रकरण में यदि केवल २९ कारिकायें हैं तो दूसरे प्रकरण में कुल ३८ कारिकायें हैं। इस प्रकरण में सभी वस्तुओं की "अयथार्थता" का उल्लेख होने से "वैतथ्य" की चर्चा होने से ही इसका नाम 'वैतथ्य' प्रकरण है।

इस प्रकरण की एक गाथा इस प्रकार है—

कल्पयत्यात्मनात्मानं आत्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तनिश्चयः ॥२–१२॥

[आत्मा (देव) अपनी माया से स्वयं अपने-आपसे अपनी कल्पना करता है। वह ही वस्तुओं के अयथार्थ रूप को जानता है—यही 'वेदान्त' का निश्चय है।]

यह आत्मा कोई 'देव' तो नहीं ही है। तो क्या है? गौड़पादाचार्य्य अपनी एक कारिका में इसे स्पष्ट करते हैं—

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥२—१७॥

[जिस प्रकार अन्धेरे में, रज्जु का निश्चित ज्ञान न होने पर सर्प तथा जल-धारा आदि के विकल्प पैदा होते हैं, उसी प्रकार यह 'आत्मा' की कल्पना है।]

वैदिक परम्परा का अनुसरण करने वाले वाङ्मय में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग कहीं 'चित्त' के अर्थ में है, कहीं 'जीवात्मा' के अर्थ में है, कहीं, 'ब्रह्म' के अर्थ में है। उक्त गाथा में गौड़पादाचार्य्य ने 'आत्मा' शब्द का प्रयोग 'जीवात्मा' के अर्थ में किया है, और उसे एक 'कल्पना' मात्र बताया है। इस दृष्टि से न केवल गौड़पादाचार्य्य का सिद्धान्त बल्कि समस्त "वेदान्त" ही 'नैरात्मवादी' दर्शन है।

इस से आगे गौड़पादाचार्य्य ने 'आत्मा' के सम्बन्ध में नाना प्रचलित मतों की चर्चा की है। अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—

भावैअसद्भिरवायं अद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद् अद्वयता शिवा ॥२—३३॥

[अद्वय के आधार से ही असत् वस्तुओं (=भावों) के हिसाब से ही 'आत्मा' की कल्पना की गई है। अद्वय के आधार से ही वस्तुओं (=भावों) की कल्पना की गई है—इसलिये अद्वयता ही कल्याण कर है।]

अद्वैत-वाद से विशिष्ट करने के लिये सुगत-सिद्धान्त को अद्वय-वाद ही कहा गया है। लगता है गौड़पादाचार्य्य दोनों में कुछ विशेष भेद नहीं करते। इसीलिये उन्हों ने आगे चलकर अद्वय-वाद के ही अर्थ में 'अद्वैत-वाद' का भी प्रयोग किया है—

तस्माद् एवं विदित्वैनं अद्वैते योजयेत् स्मृति।
अद्वैतं समनुप्राप्य जड़वल्लोकं आचरेत ॥२—३४॥

[इसलिये ऐसा जानकर अपनी स्मृति (=ध्यान) को अद्वय (=अद्वैत) में लगाये। अद्वय (=अद्वैत) को प्राप्त कर लोक के प्रति जड़वत् व्यवहार करे।]

इसी के आगे की कारिका है—

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत ।।२—३७।।

[न स्तुति करे, न नमस्कार करे, न स्वधा करे, अनिश्चित गृह वाला होकर, यति को यथा-रुचि भ्रमण करने वाला होना चाहिये ।]

यूँ तो इस प्रकरण की सभी कारिकायें बौद्ध-विचार-सरणी से अविरुद्ध ही नहीं, प्रभावित कारिकायें हैं, किन्तु कुछ तो स्पष्ट रूप से उपमा तथा शब्दावलि तक के लिये भी बौद्धग्रन्थों की ही ऋणी हैं । एक बहुत ही महत्वपूर्ण कारिका है—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वं इदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।२—३१।।

[जैसे स्वप्न दिखाई देता है, जैसे माया दिखाई देती है, जैसे गन्धर्वनगर होता है, उसी प्रकार 'वेदान्त' के अनुसार बुद्धिमान आदमियों को यह विश्व दिखाई देता है ।]

इस कारिका में 'वेदान्त के अनुसार' प्रयोग ध्यान देने योग्य है । किस 'वेदान्त' के अनुसार ? बुद्ध-पूर्व 'वेदान्त' के अनुसार अथवा बुद्धोत्तर 'वेदान्त' के अनुसार ?

आकाश-स्थित काल्पनिक गन्धर्व-नगर की कल्पना, बौद्धों की अपनी कल्पना है । बौद्ध-ग्रन्थों से पूर्व इसका कहीं पता नहीं । बौद्धग्रन्थों में बहुत उल्लेख है । उदाहरण के लिये माध्यमिक-वृत्ति (पृ०७८) में है—

गन्धर्वनगराकारा मरीचिस्वप्नसन्निभाः ।

इसी प्रकार लंकावतार सूत्र (पृ. २८३) में हैं—

गन्धर्वनगर स्वप्नमाया निर्माण सदृशः ।

इस से अगली कारिका भी महत्वपूर्ण है । इसे पीछे के कई उपनिषदों में उद्धृत किया गया है । कारिका है—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो च साधक ः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।२—३२।।

[न विरोध है, न उत्पत्ति है, न बंधा हुआ है, न साधक है, न मोक्ष की कामना करने वाला है, न मुक्त है—यही परमार्थ सत्य है ।]

महायान सूत्रालंकार में है—

न सन् न चासन् न तथा न चान्यथा ।
न जायते व्येति न चावहीयते ।।
न वर्धते नापि विशुध्यते पुनः
विशुध्यते तत् परमार्थलक्षणं ।।

[न सत् है, न असत् है, न अन्यथा है, न उत्पत्ति है, न व्यय है, न ह्रास है, न वृद्धि है, न विशुद्धि है। जो पुनः विशुद्धि है, वह परमार्थ लक्षण है।]

इस से आगे की एक कारिका भी कम महत्वपूर्ण नहीं—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमोऽद्वयः ।।२–३५।।

[जो राग-भय-क्रोध से रहित हैं, जो वेद पार पहुंचे हैं, उन्होंने इस अद्वय, निर्विकल्प, प्रपंचोपशमन रूप तत्व को देखा है।]

इस कारिका में भी जो 'प्रपंचोशम' शब्द आया है, बौद्ध-युग पूर्व ब्राह्मणी-साहित्य में इसका कहीं प्रयोग नहीं मिलता। पीछे के कुछ गौण उपनिषदों में अवश्य है।

आचार्य्य नागार्जुन का प्रसिद्ध नमस्कार-श्लोक ही है—

अनिरोधं अनुत्पादं अनुच्छेदं अशाश्वतं ।
अनेकार्थं अनानार्थं अनागमं अनिर्गमं ।।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवं ।
देशयामास सम्बुद्धः तं वन्दे वदतां वरं ।।

ब्राह्मणी-ग्रन्थों में प्रपंच का अर्थ सृष्टि का विस्तार हो गया है। इसका मूल अर्थ वाणी की अभिव्यक्ति-सामर्थ्य है। प्रपंचोपशम का अर्थ हुआ जहाँ वाणी का उपशमन होता है।

गौड़पादाचार्य्य की उक्त गाथा (२–३५) में आया "वेदपारगैः" शब्द भी ध्यान देने योग्य है। इसका मतलब 'वेद का पारंगत' अथवा 'वेद से परिचित' ऐसा कुछ नहीं। इसका मतलब है 'वेद के पार गया हुआ' अर्थात् 'वेद की सीमा लांधा हुआ'।

तीसरा परिच्छेद अथवा अद्वैत-प्रकरण दूसरे परिच्छेद से भी कुछ बड़ा अर्थात् २८ कारिकाओं का है।

अद्वैत-प्रकरण' में ब्रह्म' से पथक किसी आत्मा' या जीवात्मा' का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया। ब्रह्म के लिये भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग होने से ही 'ब्रह्मवाद' को भी अनात्मवाद' कहना कठिन है, अन्यथा जहाँ तक आत्मा' या जीवात्मा' की कल्पना का सम्बन्ध है, गौड़पादाचार्य्य तथा तदनुयायी शंकराचार्य्य का 'ब्रह्मवाद' भी सुगत-शिक्षा के ही समान 'अनात्मवाद' है।

गौड़पादाचार्य्य 'शास्त्र योनित्वात्' का भी अन्धा अनुसरण करने वाले प्रतीत नहीं होते। अद्वैत-प्रकरण की ही एक 'कारिका' है--

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत् तद् भवति नेतरत् ॥३--२६॥

[जहाँ तक 'श्रुति' की बात है, वहाँ कहीं तो भूत (=अस्तित्व) से सृष्टि मानी गई है, कहीं 'अभूत' से। जो निश्चित है, जो युक्ति-युक्त है, वही होता है, इस से इतर नहीं।]

श्रुति के विषय में वैमत्य होने पर येनकेन प्रकारेण श्रुति-वाक्यों की संगति बिठाते फिरने से यही युक्ति-संगत है कि जो मत युक्ति-युक्त हो, उसे स्वीकार कर लिया जाय।

निस्संदेह गौड़पादाचार्य्य की यह बुद्धि-परक प्रवृत्ति स्वागतार्ह ही है।

इस से आगे की कारिकाओं में गौड़पादाचार्य्य ने 'श्रुति' की ओर से भी निरपेक्ष होकर माध्यमिकों तथा विज्ञानवादियों के अजातिवाद (=अनुत्पत्ति-वाद) का समर्थन किया है।

'कार्य' से कारण और 'कारण' से फिर 'कार्य्य स्वीकार करने पर या तो अनवस्था दोष मानना पड़ता है।

'कार्य' की 'कारण में ही विद्यमानता मानने पर शास्वतवाद' स्वीकार करना पड़ता है।

कार्य' को 'कारण से सर्वथा पृथक मानने पर उच्छेदवाद' स्वीकार करना पड़ता है।

इसलिये माध्यमिकों तथा विज्ञान-वादियों ने अजातिवाद (अनुत्पत्ति-वाद) को स्वीकार किया है।

'अद्वैत-वाद-प्रकरण' में गौड़पादाचार्य्य ने अजातिवाद का समर्थन करने के अनन्तर चित्त की जिस विशेष स्थिति की 'ब्रह्म' कह कर प्रशंसा की है, उसका 'विज्ञान-वाद' से कुछ भी विरोध नहीं। कारिका है—

अकल्पकं अजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते।
ब्रह्मज्ञेयं अजं नित्यं अजेनाजं विबुध्यते ॥३—३३॥

[संकल्प-विकल्प-विहीन, ज्ञेय से अभिन्न ज्ञान (= मन) को अजन्मा कहा गया है। 'ब्रह्म' ज्ञेय 'नित्य' है, 'अज' है। इसलिये 'अज' का बोध होता है।]

यूं 'नित्य' और 'ध्रुव' शब्द पर्य्याय प्रतीत होते हैं, बौद्धों के लिये नित्य (= अपरिवर्तन-शील) कुछ भी नहीं, ध्रुव (= सदा रहने वाले) अस्तित्व से उन्हें इनकार नहीं।

इस से आगे की कारिका में भी ब्रह्माख्य चित्त के स्वरूप का वर्णन किया गया है—

लीयते हि सुषुप्ते तं निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं 'ब्रह्म' ज्ञानालोकं समन्ततः ॥

[सुषुप्ति अवस्था में मन 'लीन' हो जाता है, निगृहीत अवस्था में मन 'लीन' नहीं होता। उसी को निर्भय 'ब्रह्म' कहते हैं, वह चारों ओर से ज्ञान से आलोकित है।']

अंगुत्तर-निकाय की यह 'पाली' है—

पभस्सरं इदं भिक्खवे चित्तं संकिलिट्ठं आगन्तुकेहि किलेसेहि

[भिक्षुओ, चित्त प्रभास्वर है, आगन्तुक क्लेशों (= चित्त-मलों) से संक्लिष्ट है।]

विज्ञान-वाद इस के सर्वथा अनुकूल है—

प्रभास्वरं इदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः।
तेषां अपाये सर्वार्थं तज्ज्योति अविनाश्वरं।

[यह चित्त प्रभास्वर है, प्रकृत्यागत मल आगन्तुक हैं। उनके दूर होने पर वह ज्योति अविनाशी सर्वार्थ अवस्थाको प्राप्त होती है।]

इसी चित्त के रूप को और भी स्पष्ट किया गया है—

अजं अनिद्रं अस्वप्नं अनामकं अरूपकं ।
सकृदविभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।।३-३६।।

[अज है, अनिद्र है, अस्वप्न है, अ-नामक है, अरूपक है, —एक बार ही प्रकाशित है, सर्वज्ञ है, इस समाधि में किसी भी तरह की 'उपचार' समाधि शेष नहीं रहती ।]

बौद्ध योगाभ्यास में समाधि की दो अवस्थायें हैं—उपचार, अर्पणा । यह 'उपचार' स्पष्ट रूप से बौद्ध योगाभ्यास का ही शब्द है ।

अगली कारिका भी देखिये—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ।।३-३७।।

[सभी अभिव्यक्तियों से परे, सभी प्रकार के चिन्तन से मुक्त, सुप्रशान्त, एक ही बार में प्रकाशित, अचल, अभय यह समाधि है ।]

बौद्ध योगाभ्यास में 'अचला' नाम की समाधी विशेष है । और इस से अगली कारिका भी—

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गः चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मस्थं तदा ज्ञानं अजाति समतां गतं ।।३-३८।।

[वहाँ चिन्तन नहीं रहता, वहाँ न किसी वस्तु का ग्रहण होता है, न त्याग होता है, उस समय चित्त (=ज्ञान) अपने में स्थित रहता है, अजन्मा (=अजाति) होता है, समता को प्राप्त होता है ।]

उस कारिका में जो 'आत्मस्थ' शब्द है उसका मतलब किसी आत्मा-विशेष में स्थित नहीं, बल्कि अपने आप में, अपने चित्त-मात्र में, अपने विज्ञान-मात्रमें । विज्ञान वादियों की 'विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि' का ठीक यही भावार्थ है ।

यह समाधी-प्रकरण ही है । गौडपादाचार्य्य कहते हैं—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शामयेत पुनः ।
सकशायं विजानियाच्छमप्राप्तं न चालयेत ।।३-४४।।

[जब चित्त लीन (=तन्द्रा) अवस्था को प्राप्त हो, तो उसे जाग्रत कर ले, जब विक्षोभ को प्राप्त हो तो उसे शान्त कर ले, अपने कशाय (=चित्त मलों) को जाने । शान्त-चित्त को फिर चञ्चल न होने दे ।]

इस कारिका की महायानसूत्रालंकार की इस कारिका के साथ कितनी अधिक एकरूपता है—

लीनं चित्तस्य गृह्णीयाद् उद्धतं शमयेत पुनः ।
शमप्राप्तं उपेक्षेत तस्मि नालम्बते पुनः ।।

इतना अधिक अर्थ-साम्य और शब्द-साम्य है कि पृथक अर्थ देने का कुछ भी प्रयोजन नहीं ।

अन्तिम दो कारिकाओं में 'अद्वैत' प्रकरण संक्षिप्त हो गया है—

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणं अकथ्यं सुखं उत्तमं ।
अजं अजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ।।३-४७।।

[अपने में ही स्थित, शान्त, सनिर्वाण, अकथ्य, उत्तम-सुख, अज, ज्ञेय अज' का पर्य्याय, जो चित्त है, वह सर्वज्ञ कहलाता है ।]

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न गृह्यते ।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ।।३-४८।।

[कोई जीव (=आत्मा) जन्म ग्रहण नहीं करता, यह सम्भव ही नहीं है । यह कहीं किसी का जन्म न होने की जो स्थिति है, वही उत्तम सत्य है ।]

गौड़पादाचार्य्य का अद्वैत-प्रकरण बौद्धाचार्य्यों के अद्वय-वाद के इतना समीप है कि कुछ कहते नहीं बनता ।

लगता है कि प्रथम-प्रकरण के बाद, दूसरे और तीसरे प्रकरण में गौड़-पादाचार्य्य का बौद्ध झुकाव बढ़ता गया है । इस का इस से अधिक क्या प्रमाण होगा कि उन के 'आगम-शास्त्र का' चौथा और सब से बड़ा 'अलात-शान्ति' प्रकरण एक प्रकार से सर्वांश में बौद्ध ग्रन्थ ही है । उस में वैदिक ब्राह्मण-वाद का जैसे स्पर्श भी नहीं है । सर्व प्रथम मंगलाचरण की ही दो कारिकायें पढ़िये—

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरं ।।४-१ ।।

[ज्ञेय से अभिन्न, आकाश के समान विस्तृत ज्ञान से जिन्होंने गगनोपम धर्मों (=संस्कृत-धर्मों तथा असंस्कृत-धर्मों) का बोध प्राप्त किया उन द्विपदों में श्रेष्ठ तथागत (=बुद्ध) को मेरा नमस्कार है ।]

शंकराचार्य्य का कथन है कि गौड़पादाचार्य्य का यह नमस्कार 'नारायण' को है । उन्हें यह तो सोचना चाहिये था—

(१) कि यह द्विपदों में वर, किसी 'नरोत्तम' को ही नमस्कार है, न कि किसी नारायण को।

(२) इस कारिका में 'ज्ञान' को 'आकाशाभिन्न' कहा गया है और 'ज्ञेयाभिन्न' भी कहा गया है, जो एकमात्र विज्ञानवादी बौद्धों की ही दृष्टि है।

उक्त दोनों कारणों से यह स्पष्ट है कि गौड़पादाचार्य्यने अपना यह नमस्कार भगवान् तथागत को ही निवेदित किया है।

इस से आगे की दूसरी कारिका भी इस का समर्थन करती है—

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखोहितः
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितास्तं नमाम्यहं ।।४-२।।

[सभी प्राणियों के लिये सुखदायक तथा हितकर विवाद-रहित, विरोध, रहित, 'अस्पर्शयोग' नाम के योग का जिन्होंने उपदेश दिया उन तथागत (=बुद्ध) को मेरा नमस्कार है।]

यह 'अस्पर्श-योग' 'निरोध समापति' का ही दूसरा नाम है, जिसके उपदेष्टा 'देव-मनुष्योंके शास्ता' बुद्ध ही थे। इस लिये यह पुनः नमस्कार भी उन्हीं को है।

अब हम इस 'अलात-शान्ति' प्रकरण में वर्णित विषय का ही विचार करें।

गौड़पादाचार्य्य ने विषय की भूमिका यह कह कर आरम्भ की है, कोई-कोई वादी कहते हैं कि भूत (=सत) से ही उत्पत्ति होती है, अन्य धीर (=जन) कहते हैं कि अभूत (=असत) से उत्पत्ति होती है—इस प्रकार वे परस्पर विवाद करते हैं। (४/३) ये दोनों सामान्य जनों के सामान्य मत नहीं है। दोनों ही श्रुति-सम्मत मत हैं। इन दोनों से विशिष्ट मत है अद्वय-वादियों अर्थात् बौद्धों का—

भूतं न जायते किञ्चिद् अभूतं नैव जायते ।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवं अजातिं ख्यापयन्ति ते ।।४-४।।

[भूत (=सत) से कुछ उत्पन्न नहीं होता, अभूत (=असत) से कुछ उत्पन्न नहीं होता, इनके मत का खण्डन कर जो अद्वय-वादी अर्थात् बौद्ध हैं, वे अजाति (=अनुत्पत्ति) की ही बात कहते हैं।]

अद्वय-वाद और अद्वैत-वाद का भेद बहुतों को स्पष्ट नहीं। अद्वय-वाद का मतलब है वह वाद जिसमें दोनों अन्तों (=सिरें की बातों) अथवा दोनों आत्यन्तिक दृष्टियों का निषेध है और, अद्वैत-वाद का मतलब है वह वाद जिस में द्वैत का निषेध है।

भगवान् बुद्ध "महाकारुणिक अद्वयवादी" हैं और उन का सिद्धान्त अद्वय-वाद ।

गौड़पादाचार्य्य के इस प्रकरण का प्रधान विषय 'अजाति-वाद' ही है । भारतीय दर्शनों की जितनी भी अबौद्ध परम्परायें हैं प्रायः सभी में कारण से कार्य की उत्पत्ति मानी गई हैं । बौद्ध ही हैं जो 'अजातिवाद' के समर्थक हैं ।

गौड़पादाचार्य्य की विशेषता है कि वह स्वयं वैदिक-परम्परा के आचार्य्य होकर भी बौद्धों के 'अजाति-वाद' के समर्थक हैं । कारिका है—

ख्याप्यमानां अजातिं तैर्अनुमोदामहे वयं ।
विवदामो न तै सार्धं अविवादं निबोधत ।।४-५।।

[उन (बौद्धों) का जो अजाति (=अनुत्पत्ति) विषयक कथन हैं उसका हम अनुमोदन करते हैं, हम उन के साथ विवाद नहीं करते । हमारे अविवाद का कारण सुनो ।]

इस अनुत्पत्ति के सिद्धान्त को गौड़पादाचार्य्य ने ही नहीं आगे चलकर शंकराचार्य्य ने भी 'परमार्थ-सत्य' के रूपमें स्वीकार किया है ।

गौड़पादाचार्य्य बौद्धों के इस सिद्धान्त के समर्थन में अनेक तर्क देते हैं । जैसे—

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यं अमृतं तथा ।
प्रकृतेऽन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।४-७।।

[अमृत मृत नहीं होता, और मृत अमृत नहीं होता । प्रकृति (=स्वभाव धर्म) का अन्यथाभाव नहीं होता ।]

नागार्जुन की माध्यमिक-कारिका की एक कारिका है—

यद्यस्तित्वं प्रकृत्या स्यान न भवेद अस्य नास्तिता ।
प्रकृतेऽन्यथाभावो न हि जातूपपद्यते ।।१५-८।।

[यदि प्रकृति का 'अस्तित्व' हो तो उसका 'नास्तित्व' नहीं हो सकता । निश्चय से प्रकृति का अन्यथात्व नहीं हो सकता ।]

अनेक तर्कों में एक तर्क यह भी है—

हेतोर्आदि फलं येषां आदि हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत् तेषां पुत्रज जन्म पितुर्यथा ।।४-१५।।

[जिन के मत में 'फल' हेतु का आदि है और 'हेतु' फल का आदि है, उनके मत के अनुसार किसी भी वस्तुका जन्म वैसे ही हो सकता है जैसे पुत्र से पिता का जन्म।]

गौड़पादाचार्य्य की यह कारिका नागार्जुन कृत विग्रहव्यावर्तिनी की इस कारिका से कितनी मिलती है—

पित्रा यद्युत्पादयः पुत्रो यदि तेन चैव पुत्रेण।
उत्पाद्यः स यदि पिता वद तत्रोत्पादयति कः कं ॥५०॥

[यदि पिता से पुत्र की उत्पत्ति होती है, और वह पुत्र पुनः पिता की उत्पत्ति करता है, तो बताओ कौन किसे उत्पन्न करता है ?]

'आगम-शास्त्र' के 'अलात शान्ति' प्रकरण की उक्त कारिका से आगे की कारिका है—

सम्भवे हेतुफलयो एषितव्यः क्रमस्त्वया।
युगपत् सम्भवे यस्माद् असम्बन्धो विषाणवत् ॥

[उत्पत्ति (= सम्भव) मानने पर हेतु फल का क्रम खोजना ही होगा। यदि कहो कि हेतु तथा फल दोनों युगपत हैं तो उन दोनों का परस्पर उसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं जैसे (बैल के) सींगों का।]

नागार्जुन ठीक यही तो लिख गये हैं—

फलं सहैव सामग्रया यदि प्रादुर्भवेत् पुनः।
एककालौ प्रसज्येते जनको यश्च जायते ॥म.का–२०/७॥

[यदि फल अपने कारण (= कारण-सामग्री) के साथ ही अस्तित्व में आता है, तो उत्पन्न करने वाले तथा उत्पन्न होने वाले का अस्तित्व एक ही समय में होता है।]

यही हाल इस से अगली एक कारिका का भी है—

यदि हेतोः फलात् सिद्धिः फल सिद्धिश्च हेतुतः।
कतरत् पूर्वं उत्पन्नं यस्य सिद्धिर्अपेक्षया ॥

[यदि 'फल' से 'हेतु' की उत्पत्ति (= सिद्धि) है और 'हेतु' से 'फल' की उत्पत्ति है, तो दोनों में कौन पूर्व है जिसकी अपेक्षा से दूसरे की उत्पत्ति होती है ?]

अब नागार्जुन की माध्यमिक-कारिका की कारिका को लें—

यदींधनं अपेक्ष्याग्नि अंपेक्षाग्नि यदींधनं ।
कतरत् पूर्वनिष्पन्नं यदेपक्ष्याग्निईन्धनं ।। [म. क. १०-८]

[यदि इन्धन की अपेक्षा से अग्नि है और अग्नि की अपेक्षा से ईंधन है, तो इन दोनों में से कौन पूर्व है जिसकी अपेक्षा से ईंधन तथा अग्नि अस्तित्व में आते हैं ।]

इस से आगे गौड़पादाचार्य्य अजाति (= अनुत्पत्ति) के समर्थन में बौद्धों द्वारा दिये गये तीन तर्कों को ही दोहराते है। 'अशक्ति' होनेसे, 'अपरिज्ञान' होने से, 'क्रम' में गड़बड़ी होने से, इन्हीं तीन कारणों से बुद्धोंने 'अजाति' की देशना की है।]

तीनों कारणों की व्याख्या के अनन्तर गौड़पादाचार्य्य इसी परिणाम पर पहुंचते हैं—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ।
सद्सत् सद्सद् वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ।।४-२२।।

[न अपने में से ही कोई चीज उत्पन्न होती है, न पर (= अन्य) में से ही कोई चीज उत्पन्न होती है, न विद्यमान (= सत्) से कोई चीज उत्पन्न होती है, न अविद्यमान् (= असत्) से, न विद्यमानाविद्यमान (= सदसद) से कोई चीज उत्पन्न होती है।]

इस कारिका की पहली पंक्ति नागार्जून की ही उक्ति की पुनरावृत्ति है—

न स्वतो जायते भावः परतो नैव जायते ।
न स्वतः परतश्चैव जायते जायते कुतः ।। [म. क. २१-१३]

[न अपनेमें से ही कोई चीज (= भात्र) उत्पन्न होती है, न पर (अन्य) से; और न ही अपने तथा अन्य से। तब उत्पत्ति हो ही कैसे सकती है ?]

कारिका की दूसरी पंक्ति भी नागार्जुन की ही एक दूसरी कारिका की पुनरावृत्ति मात्र है—

न सन् नासन् न सदसन् धर्मो निर्वर्तते यदा ।
कथं निर्वर्तको हेतुर्एवं सति हि युज्यते ।।म. क. १/७।।

[जब न विद्यमान (= सत) न अविद्यमान (= असत्) न विद्यमानाविद्यमान् (= सदसन्) से हो कोई चीज अस्तित्वमें आती है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि हेतु से फल की उत्पत्ति होती है ?]

'अजातिवाद' के समर्थन में जितना कुछ भी कहा जा सकता है वह सब कहकर आगे गौडपादाचार्य्य एक विज्ञानवादी बौद्ध की ही तरह कहते हैं--

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलं अवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तं अद्वयं ।।४-४५।।

[जो विज्ञान (=चित्त) शान्त है, अद्वय है, वह अज (=अजन्मा) होने पर भी उत्पत्ति (=जाति) का आभास देता है, अचल (=स्थिर) होने पर भी अस्थिरता का आभास देता है, और इसी प्रकार अवस्तु होने पर भी वस्तु-रूप होने का आभास देता है ।]

ध्यान देने की बात है, 'विज्ञान' को चित्त को **अद्वैत** नहीं कहा गया है, **अद्वय** ही कहा गया है ।

इससे आगे मशाल के घुमाने से उत्पन्न होने वाले चक्र की उपमा की विस्तृत चर्चा की गई है और अन्त में यही निष्कर्ष निकाला गया है--

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजं ।
एवं हेतुफला जातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ।।

[इस प्रकार न तो धर्मों (=चित्त के विषयों) की ही उत्पत्ति चित्त से हुई है और न चित्त की ही उत्पत्ति धर्मों (=चित्त विषयों) से हुई है। इस प्रकार मनीषी जन हेतु-फल की अनुत्पत्ति (=अजाति) के सिद्धान्त में प्रवेश करते हैं।]

कुछ ही आगे चलकर गौड़पादाचार्य्य कहते हैं--

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं तेन नास्ति वै ।
स्वभावेन ह्यजं सर्वं उच्छेदस्तेन नास्ति वै ।।

[व्यवहारिक (=संवृति) दृष्टिकोण से सभी कुछ पैदा होता है, इस लिये निश्चय से शाश्वत नहीं है। (दूसरी ओर) स्वाभाविक (=तात्विक) दृष्टि से सब कुछ अनुत्पन्न है (=अज) है, इसलिये निश्चय से उच्छेद नहीं है ।।४-५७।।]

इस एक ही कारिका में दो बौद्ध मतों की नितान्त स्वीकृति है । यह सर्व विदित है कि बौद्ध न तो 'शाश्वतवाद' को मानते हैं न **'उच्छेदवाद'** को। माध्यमिक-कारिका की ही एक कारिका है—

अनेकार्थं अनानार्थं अनुच्छेदं अशाश्वतं ।
एतत् तत् लोकनाथानां बुद्धानां शासनामृतं ।।म.का. १८-२।।

[एकार्थ-रहित, नानार्थ-रहित, उच्छेद-रहित, शाश्वत-वाद-रहित जो देशना है, वही लोकनाथ बुद्धों का शासनामृत है ।]

इसी प्रकार दूसरा प्रसिद्ध बौद्ध मत माध्यमिक-कारिका की ही इस कारिका में व्यक्त हुआ है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना ।
लोकसंवृति सत्यं च सत्यं च परमार्थतः ।। म.का. १४-८।।

[संवृति-सत्य तथा परमार्थ सत्य—इन दोनों सत्यों को लेकर बुद्धों की धर्म-देशना है ।]

बुद्धघोषाचार्य्य का भी यही कहना है—

द्वे सच्चानि अक्खासि सम्बुद्धो वदतं वरो ।
सम्मुतिं परमत्थं च ततियं नूपलब्भति ।।

[सुमंगल विलासिनी]

[वाणी-श्रेष्ठ सम्बुद्ध ने दो सत्यों का उपदेश दिया है—सम्मुति (संवृति) सत्यका तथा परमत्थ (=परमार्थ) सत्यका—तीसरा सत्य नहीं हैं ।]

विधुशेखर भट्टाचार्य्य की स्थापना है कि ये दोनों 'सत्य' उपनिषदों में कहीं नहीं हैं । शंकराचार्य्य ने जो इन दोनों सत्यों को अपने दर्शन का मूलाधार बनाया है, वह गौड़पादाचार्य्य के माध्यम से बौद्ध-वाङमय से ही इन दोनों सत्यों को अपनाने का परिणाम है ।

क्योंकि अजातिवाद (=अनुत्पत्तिवाद) ही 'अलात शान्ति' प्रकरण का विशेष विषय है, इसलिये गौड़पादाचार्य्य बार बार इसी मत की स्थापना और समर्थन करते हैं—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत् तद् उत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ।।७१-४।।

[किसी जीव (=आत्मा) का जन्म नहीं होता । इस की कोई सम्भावना नहीं । यही उत्तम सत्य है कि कहीं कुछ जन्म नहीं ग्रहण करता ।]

विषय-विमुख चित्त का उल्लेख करते हुए गौड़पादाचार्य्य कहते हैं—

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत् साम्यं अजं अद्वयं ।।४-८।।

[जब चित्त एक बार (विषयों से) निवृत्त होकर फिर उनमें प्रवृत्त नहीं होता तो वह निश्चल स्थिति कहलाती है । यह बुद्धों का विषय है—यह साम्य-तत्व, यह अज-तत्व, यह अद्वय-तत्व ।]

यही बौद्धों का 'निर्वाण' है और गौड़पादाचार्य्य के अनुसार यही उनका 'ब्रह्म' है । हम नहीं कह सकते कि उपनिषदों के 'ब्रह्म' से ठीक ठीक क्या समझा

जाय ? किन्तु यदि गौड़पादाचार्य्य का 'ब्रह्म' चित्त की यही निश्चित स्थिति, यही निरोध-समापत्ति है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि गौड़पादाचार्य्य का 'ब्रह्म' उपनिषदों के 'ब्रह्म' से भिन्न और कदाचित् बौद्ध 'निरोध-समापत्ति' का ही पर्य्याय है।

इसी-निरोध समापत्ति के प्रति अत्यन्त आदर-बुद्धि होने से इसे भगवान् धर्म-धातु तक कहा गया है——

"जिस किसी धर्म (= चित्त-विषय) को (आसक्ति पूर्वक) ग्रहण करने में ही सुख सदा उघड़ा रहता है और दुःख ढका रहता है; जो मूर्ख है वह भगवान् (निर्वाण) को स्थिर मानने के कारण 'अस्ति' (= है), चल मानने के कारण नास्ति (= नहीं है), स्थिर तथा चल दोनों मानने के कारण अस्ति-नास्ति (है—नहीं है), और दोनोंका अभाव मानने के कारण नास्ति-नास्ति (नहीं है—नहीं है) कहकर ढकता है।

"इन चार कोटियों के आसक्ति-पूर्वक ग्रहण करने से भगवान् निर्वाण सदा ढका हुआ है। लेकिन वास्तव में वह इस से अस्पृष्ट है। जिस ने यह सत्य देख (= जान) लिया है, वह सर्वदृक (= सर्वज्ञ) है।" (४—८२, ८३, ८४)

निस्सन्देह उपनिषदाश्रित वेदान्त को इन चार कोटियों में से प्रथम कोटि मान्य ही नहीं; उसका आग्रह है——

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तद उपलभ्यते।
अस्तेव उपलब्धव्यः।

[कठ उपनिषद् ६—१२,१३]

इस सम्बन्ध में माध्यमिक-बौद्ध-मत भी उतना ही स्पष्ट है——

न सन नासन न सदसन न चाप्य अनुभयात्मकं।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः॥

[न सत्, न असत्, न सदसत्, न उभय-स्थिति-रहित——इन चारों कोटियों से मुक्त तत्व को माध्यमिक जानते हैं।]

एक बात ध्यान देने की है। गौड़पादाचार्य्य ने इस प्रकरण में जहाँ कहीं भी किसी भी नाम से निर्वाण अथवा धर्म-धातु का संकेत किया है, वहाँ कहीं भी उसे 'अद्वैत' नहीं कहा, 'अद्वय' ही कहा है।

एक इस कारिका को भी लीजिये——

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदं अद्वयं।
अन्नापन्नादिमध्यान्तं किं अतः परं इहते॥४—८५॥

[समस्त सर्वज्ञता, ब्राह्मण्य-पद, अद्वय-भाव, आदि-मध्यन्त-रहित भाव को प्राप्त कर, इस से बढ़कर और किस चीज की इच्छा करे ?]

इस कारिका में भी 'समस्त-सर्वज्ञता' को 'अद्वय' तो कहा ही गया है, साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि 'ब्राह्मण्य' शब्द में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग भी जाति वाचक न होकर गुण-वाचक ही है।

अगली एक (४–४०) कारिका में 'महायान' के अर्थ में ही अग्र-यान शब्द का प्रयोग हुआ है। गौड़पादाचार्य्य 'महायान' धर्म के प्रचारक की सी ही भाषा का प्रयोग करके कह रहे हैं—

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयानतः ।
तेषां अन्यत्र विज्ञेयाद् उपलम्भः त्रिषु स्मृतः ।।४-९०।।

[जो हेय है, जो ज्ञेय है, जो प्राप्य है, जो पाक्य है—ये सब अग्रयान (= महायान) द्वारा ही जानने चाहिये। जो ज्ञेय (= विज्ञेय) है, उसे छोड़कर अन्य तीन की ही उपालम्भ (संज्ञा) मानी गई है।]

गौड़पादाचार्य्य की अनेक कारिकाओं में और महायान ग्रन्थों में आगत अभिव्यक्तियों में इतना अधिक साम्य है कि कहीं कहीं तो गौड़पादाचार्य्य ने छायानुवाद कर दिया मात्र प्रतीत होता है। स्थान की मर्य्यादा सभी का उल्लेख करने में बाधक ही है।

हमें यह याद रहे कि इस प्रकरण के आरम्भ में ही गौड़पादाचार्य्य ने 'ज्ञान' तथा 'ज्ञेय' की एकता का प्रतिपादन किया है; उसी से वे इस प्रकरण का अवसान भी कर रहे हैं—

क्रमते न ही बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।
सर्वधर्मांस्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितं ।।४-९९।।

[जो बुद्ध हैं, जो शिक्षक हैं उनके अनुसार ज्ञान धर्मों (= चित्त-विषय-पदार्थों) तक संक्रमण नहीं करता। सभी धर्म (= संस्कृत धर्म + असंस्कृत धर्म) तथा ज्ञान—ये बुद्ध की भी वाणी के विषय नहीं, अर्थात् ये स्वानुभव के ही विषय हैं।]

अपने 'आगम-शास्त्र' के इस चौथे प्रकरण में भी गौड़पादाचार्य्य ने एकाधिक स्थानों पर "विषयः स हि बुद्धानां" (४–८०) आदि कहकर 'अजातिवाद' आदि सिद्धान्तों के बुद्ध-प्रतिपादित होने का उल्लेख किया है। तब ग्रन्थ की अन्तिम कारिकाओं में "नैतद् बुद्धेन भाषितं" (यह बुद्ध द्वारा नहीं कहा गया है) कहने का क्या अभिप्राय ?

यह ऊपर की कारिका नागार्जुन के इस कथन का ही एक रूप है—

सर्वोपलम्भोपशमः प्रपञ्चोपशमः शिवः ।
न क्वचिद् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः ।।

[सभी उपालम्भों के शमन-स्वरूप, सभी प्रपञ्चों के शमन-स्वरूप कल्याणकारी धर्म का किसी को, कहीं भी तथागत ने उपदेश नहीं दिया है।]

वह उपदेश का विषय ही नहीं है। प्रत्येक बुद्धिमान द्वारा स्वयं अनुभव करने योग्य है।

अन्तिम कारिका लिखते समय गौड़पादाचार्य्य फिर एक बार तथागत को वा इस पद को नमस्कार करते हैं--

दुर्दर्शं अतिगम्भीरं अजं शाम्यं विशारदं।
बुद्धवा पदं अनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलं ॥४-१०० ॥

[इस पद का बोध प्राप्त करके जो दुर्दर्श है, जो अतिगम्भीर है, जो विषमता-रहित है, जो विशारद (=निर्भयता--युक्ता) है, जो नानात्व-विहीन है, हम (तथागत को वा इस पद को ?) यथाबल नमस्कार करते हैं।]

× × × ×

काफी समय से गौड़पादाचार्य्य का एक विनम्र अध्ययन करने की मेरी इच्छा थी। किसी भी ग्रन्थ का अनुवाद-कार्य्य उसे भली प्रकार समझने का सर्वोत्तम साधन है। इसी दृष्टि से मैंने यह अनुवाद-कार्य्य किया है।

श्री विधुशेखर महाचार्य्य ने बहुत वर्ष पहले गौड़पादाचार्य्य के 'आगम-शास्त्र' का एक अत्यन्त विद्वत्ता-पूर्ण अध्ययन कलकत्ता विश्व विद्यालय से प्रकाशित कराया था। अँग्रेजी के जानकारों के लिये वह हर दृष्टि से उपादेय है।

मेरे इस हिन्दी-अध्ययन की मूल कारिकायें भट्टाचार्य्य महाशय के उसी अध्ययन से ली गई हैं। अनुवाद-कार्य्य में भी उनका अध्ययन सहायक हुआ है। कहीं कहीं जैसा अपनी 'अल्प-बुद्धि' को भासित हुआ, वैसा भी है।

प्रस्तावना में बौद्ध-ग्रन्थों के जितने उद्धर्ण हैं, वे लग भग सभी भट्टाचार्य्य महाशय के अध्ययन से ही संकलित हैं। 'यह मेरा नहीं हूँ, यह मेरा आत्मा नहीं है'--यही सम्पूर्ण सत्य है।

हो सकता है कि यह अल्प-प्रयास गौड़पादाचार्य्य की तरह शंकराचार्य्य के विचारों की भी मूल उपादान सामग्री के अध्ययन का प्रेरक कारण बने। यदि ऐसा हुआ तो यह प्रयास सम्पूर्ण रूप से सफल होगा।

पुस्तक की पाण्डुलिपि प्रेस में जाने से पहले श्री महावीर बजाज ने दोहरा डाली थी, जिसके लिये सचमुच आभारी हूँ।

महाबोध सभा के मंत्री, श्री देवप्रिय वलीसिंह का तो मैं कृतज्ञ हूँ ही जिन्हों ने मेरे इस अध्ययन को अपनी महाबोधि 'मूल तथा अनुवाद' पुस्तकमाला में प्रकाशित करने का निश्चय किया।

धर्मराजिक विहार
कलकत्ता १२
२०-७-५७

आनन्द कौसल्यायन

आगम-शास्त्र

१

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तः प्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञा एका एव त्रिधा स्थितः ॥१॥

[जब बाहर का ज्ञान होता है, तब उसे ही विभु, विश्व कहते हैं, जब अन्दर का ज्ञान होता है तब उसे ही तैजस कहते हैं, जब एकाग्रता दृढ़ीभूत हो जाती है, तब उसे ही प्रज्ञा कहते हैं— एक ही प्रज्ञा की ये तीन स्थितियां हैं ॥ १ ॥]

२

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥२॥

[दाहिनी आँख के सामने विश्व है, मन के भीतर तैजस है, आकाश और हृदय में प्रज्ञा है— इस प्रकार एक ही प्रज्ञा तीन प्रकार से देह में स्थित है ॥ २ ॥]

३

विश्वो हि स्थूल भुं नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक ।
आनन्दभुक तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥३॥

[विश्व नित्य स्थूल का भोग लगाता है, तैजस श्रेष्ठ का भोक्ता है तथा प्रज्ञा आनन्द का भोक्ता है । इस प्रकार तीन प्रकार के भोगों को जानना चाहिये ॥ ३ ॥]

४

स्थूलं तरपयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसं ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्ति निबोधत ।।४।।

[विश्व स्थूल से तृप्त होता है; तैजस श्रेष्ठ से तृप्त होता है, तथा प्रज्ञा आनन्द से तृप्त होती है । इस प्रकार तीन प्रकार की तृप्ति जाननी चाहिये ।। ४ ।।]

५

त्रिषु धामसु यद् भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतद् उभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ।।५।।

[तीनों अवस्थाओं में जो भोज्य है और जिसे भोक्ता कहा गया है जो इन दोनों, भोज्य तथा भोक्ता को समझ लेता है, वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता है ।। ५ ।।]

६

प्रभवः सर्वभूतानां सतां इति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणाश्चेतोंशून पुरुषः पृथक ।। ६ ।।

[सत्पुरुषों का यह निश्चय है कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति होती है । कुछ (सत्पुरुषों) का कहना है कि प्राण, पुरुष (आत्मा) सब कुछ उत्पन्न करता है, चित्त की रश्मियों को पृथक-पृथक ।। ६ ।।]

७

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिर्न्यैर्विकल्पिता ।। ७ ।।

[सृष्टि के बारे में विचार करने वाले कुछ जनों का कहना है कि यह 'प्रसव' विभूति है । कुछ दूसरे सृष्टि-विचारक इसे स्वप्नवत् तथा मायावत् मानते हैं ।।७।।]

८

इच्छामात्रं प्रभो सृष्टिईति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात् प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ।। ८ ।।

[सृष्टि के बारे में निश्चित मत रखने वालों में से कुछ का कहना है कि सृष्टि प्रभु की इच्छा मात्र है, और जो काल (समय) का विचार करने वाले हैं, उनका कहना है कि सृष्टि की उत्पत्ति काल से हुई है ।। ८।।]

९

भोगार्थं सृष्टिईत्यन्ये क्रीड़ार्थं इति चापरे ।
देवस्यैषा स्वभावोऽयं आप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

[कुछ लोगों का कहना है कि सृष्टि भोगने के लिये बनी है, कुछ का कहना है कि यह देव का स्वभाव है क्योंकि जिसकी सभी कामनायें पूरी हो गई हैं वह और क्या स्पृहा करेगा ?॥ ९ ॥]

१०

निवृत्ते : सर्वदुःखानां ईषानः प्रभुर्अव्यय : ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुःस्मृतः ॥ १० ॥

[विश्व, तैजस तथा प्रज्ञा के अतिरिक्त चतुर्थ देव को 'तुर्य' कहा गया है, जो सभी दुखों की निवृत्ति है, जो प्रकाशस्वरूप है, जो सर्व-व्यापक है, जो स्वामी है, जो अपरिवर्तनशील है और जो सभी वस्तुओं में अद्वितीय है ॥ १० ॥]

११

कार्यकारणबद्धौ ताव इष्यते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वे तु तुर्ये न सिध्यतः ॥ ११ ॥

[विश्व अर्थात् बाहर का ज्ञान कार्य-कारण के नियम से बंधा है, तैजस अर्थात भीतर का ज्ञान भी कार्य-कारण के नियम से बंधा है, प्रज्ञा मात्र कारणाश्रित है। 'तुर्य' अवस्था में न कार्य है, न कारण ॥ ११ ॥]

१२

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चांनृतं ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुरीयः सर्वदृक सदा ॥ १२ ॥

[प्रज्ञावान् न अपने को, न पर को, न सत्यको तथा न असत्य को जानता है, किन्तु तुरिय सदा सर्वदर्शी है ॥ १२ ॥]

१३

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यं उभयोः प्राज्ञातुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

['प्रज्ञा' तथा 'तुरिय' दोनों ही 'द्वैत' का ग्रहण न करने में तुल्य हैं। प्रज्ञा निद्रारूपी बीज से युक्त है, 'तुर्य' अवस्था में वह नहीं होता ॥ १३ ॥]

१४

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिता : ।।१४।।

[आरम्भ के दो (विश्व तथा तैजस) स्वप्न तथा निद्रा से युक्त हैं, प्रज्ञा स्वप्नरहित निद्रा से युक्त है। तुर्य अवस्थामें पहुँचने पर निश्चित ज्ञानियों के लिये न निद्रा है और न स्वप्न है ।। १४।।]

१५

अन्यथा ग्रहणतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वं अजानतः ।
विप्रयासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदं अश्नुते ।।१५।।

[यथार्थ से अन्यथा ग्रहण स्वप्न का कारण होता है, तत्व का अज्ञान निद्राका। इन दोनों का विप्रयास (=उलटा-ज्ञान) नष्ट हो जाने से 'तुर्य' पद की प्राप्ति होती है ।। १५ ।।]

१६

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजं अनिद्रं अस्वप्नं अद्वैतं बुध्यते तदा ।। १६ ।।

[अनादिकालीन माया के प्रभाव से सोया हुआ जीव (=व्यक्ति) जब जागता है, तब वह अजन्मा, निद्रा-रहित, स्वप्न-रहित, अद्वैत का ज्ञान प्राप्त कर जाग्रत होता है ।। १६ ।।]

१७

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशय : ।
मायामातरं इदं द्वैतं अद्वैतं परमार्थतः ।।१७।।

[यदि यह प्रपञ्च (संसार) वास्तव में हो तो इसका निवर्तन भी निसंशय होगा ही। किन्तु यह द्वैत-रूप तो माया-मात्र है। परमार्थ-रूप से तो यह अद्वैत ही है ।।१७।।]

१८

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादऽयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।। १८ ।।

[यह विकल्प (=संसार) निवरतित होगा, यदि यह किसीकी कल्पना (=कृति) हो। यह विकल्प की बात केवल उपदेश देनेके लिये है। ज्ञान होने पर द्वैत नहीं रहता ।। १८ ।।]

१९

विश्वस्यात्वविवक्षायां आदि सामान्यं उत्कतं ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्याद् आप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

[विश्व को 'अ' कहने के लिये 'आदि' को 'सामान्य-धर्म' करके कहा गया; मात्रा के ज्ञान के लिये 'आप्ति' तथा 'सामान्य' दोनों प्रकट हैं ॥ १९ ॥]

२०

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटं ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्याद् उभयत्वं तथाविधं ॥ २० ॥

[तैजस को 'उ' जानने के लिये 'उत्कर्ष स्पष्ट ही है, मात्राके ज्ञानके लिये तथा-विध उभयत्व हैं ॥ २० ॥]

२१

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यं उत्कतं ।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

[प्रज्ञा को 'म' कहने के लिये 'मान' (=माप) को सामान्य-धर्म करके कहा गया। मात्रा के ज्ञान के लिये तो लय (=अन्तर्धान) होना तथा 'सामान्य-धर्म' प्रकट ही हैं ॥ २१ ॥]

२२

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वंद्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

[तीनों अवस्थाओं (=धामों) में जो तुल्य सामान्य-धर्म है, उसे जो निश्चित प्रकार से जानता है, वह महामुनि सभी प्राणियों का पूज्य तथा वन्द्य है ॥ २२ ॥]

२३

अकारो नयते विश्वं उकारञ्चापि तैजसं ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

['अ' विश्व को ले जाता है, 'उ' तैजस को ले जाता है, 'मैं' फिर प्रज्ञा-गामी है, मात्रा-रहित की 'गति' नहीं ॥ २३ ॥]

२४

ओंकारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः ।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत ।।२४।।

[ओंकार को प्रत्येक 'पाद' के साथ जानना चाहिये, 'पाँद' मात्रा हैं, इसमें संशय नहीं। ओंकार को प्रत्येक 'पाद' के साथ जान लेने से कुछ भी चिन्ता नहीं रहती ।। २४ ।।]

२५

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयं ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ।।२५।।

[चित्त को 'प्रणव' में लगाये, प्रणव भय-रहित ब्रह्म है। जो नित्य प्रणव में नियुक्त है, उसे कहीं कोई भय नहीं ।। २५ ।।]

२६

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परं स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ।।२६।।

[प्रणव ही अपर ब्रह्म तथा परं ब्रह्म कहा गया है। न 'प्रणव' से पूर्व कुछ है, न 'प्रणव' से अनन्तर कुछ है, न 'प्रणव' से बाह्य कुछ है, न 'प्रणव' से पर कुछ है और 'प्रणव' अव्यय है ।। २६ ।।]

२७

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिमध्यं अन्तः तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरं ।।२७।।

['प्रणव' सब का आदि है, मध्य है और उसी प्रकार अन्त है। जो इस प्रकार 'प्रणव' को जान लेता है, वह उसे तुरन्त प्राप्त कर लेता है ।। २७ ।।]

२८

प्रणवं ह्रीश्वरं विद्यात् सर्वस्य हृदि संस्थितं ।
सर्वव्यापिनं ओंकारं मत्वा धीरो न शोचति ।।२८।।

['प्रणव' को सबके हृदय में स्थित 'ईश्वर' माने। यह जानकर कि 'ओंकार' सर्व व्यापी है धीर-पुरुष शोक नहीं करता ।। २८ ।।]

२९

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

[जिसने यह जान लिया कि 'ओं' अमात्रा है साथ ही अनन्त मात्रा है, द्वैतका उपशमन है तथा शिव (=कल्याणकारी) है, वही जन मुनि है, और कोई नहीं ॥२९॥]

यह गौड़पादीय आगम-शास्त्र का 'आगम' नामक
प्रथम प्रकरण समाप्त हुआ ।

द्वितीय प्रकरणम्

१

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिनः ।
अन्तस्थानात् तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥१॥

[बुद्धिमानों का कहना है कि स्वप्न की सभी वस्तुयें अयथार्थ होती हैं । कारण ? क्योंकि संवृतत्व के कारण सभी वस्तुयें शरीर के अन्दर स्थिर होती हैं ॥ १ ॥]

२

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्नपश्यति ।
प्रतिबुद्धाश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते ॥२॥

[समय की कमी के कारण स्वप्न-द्रष्टा कहीं अन्यत्र जाकर उन उन स्थलों को नहीं देखता । फिर जाग्रत होने पर कोई भी स्वप्न-द्रष्टा अपने को उस देश में नहीं पाता ॥ २ ॥]

३

अभावश्च रथादीनां श्रुयते न्यायपूर्वकम ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥३॥

[(स्वप्न में देखे गये) रथ आदि की अयथार्थता न्याय-पूर्वक श्रुति में भी कही गई हे । इसलिये स्वप्न में देखी गई उन वस्तुओं की प्राप्ति अयथार्थता स्पष्ट ही है ॥३॥]

४

अन्तःस्थानात् तु भेदानां तथा जागरिते स्मृतं ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्त्वं न भिद्यते ।।४।।

[जाग्रत अवस्था में भी वस्तुओं की वही स्थिति कही गई है। भेदों (=वस्तुओं) की अन्त:स्थिति उसका कारण है। जैसे जाग्रत अवस्था में वैसे ही स्वप्नावस्थामें। संवृतत्त्व कहीं खण्डित नहीं होता ।। ४ ।।]

५

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकं आहुर्मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ।।५।।

[बुद्धिमानों का कहना है कि स्वप्नावस्था तथा जाग्रतवस्था एक ही है। दोनों अवस्थाओं में वस्तुओं की समानता रही हैं, और उनके ऐसा होने का हेतु प्रसिद्ध ही है ।। ५ ।।]

६

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेपि तत् तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तो वितथा इव लक्षिताः ।।६।।

[जो आदि में नहीं है, जो अन्त मे नहीं है, वह वर्तमान में भी नहीं है। अयथार्थ के सदृश होने के कारण सभी पदार्थ अयथार्थ ही प्रतीत होते हैं ।। ६ ।।]

७

सप्रयोजनता तेषां स्वप्नेऽपि प्रतिपद्यते ।
तस्माद् आद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ।।७।।

[जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में वस्तुओं की उपयोगिता दिखाई देती है, वैसी ही सप्रयोजनता स्वप्न में भी दिखाई देती है; इसलिये आदि तथा अन्त के समान ही वर्तमान में भी वस्तुओं का मिथ्यात्व कहा गया है ।। ७ ।।]

८

अपूर्वाः स्थानिधर्मा हि यथा स्वर्गनिवासिनां ।
तां अयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ।।८।।

[जैसे स्वर्ग-निवासियों की विशेषतायें विचित्र हैं वैसे ही स्वप्नलोक की विशेषतायें विचित्र हैं। उन विशेषताओं को यह सुशिक्षित यहां की तरह ही (परलोक) जाकर देखता है ।। ८ ।।]

९

स्वप्रवृत्तावपित्व अन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहितं सद् दृष्ठं वैतथ्यं एतयोः ।।९।।

[स्वप्न में भी जो अन्दर के चित्त से कल्पित किया जाता है वह असत् माना जाता है, जो बाहर के चित्त से गृहीत है वह सत्; किन्तु दोनों की अयथार्थता सिद्ध है ।। ९ ।।]

१०

जागृद्वृत्तावपि त्व अन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सत् युक्तं वैतथ्यं एतयोः ।।१०।।

[जागृत अवस्था में भी जो कुछ अन्तःमन से कल्पित किया जाता है, वह असत् माना जाता है और जो कुछ बहिर्मन से गृहित किया जाता है वह सत्— इन दोनों की अयथार्थता सिद्ध है ।।१०।।]

११

उभयोर्पि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क एतान् बुध्यते भेदान् को वै तेषां विकल्पकः ।।११।।

[यदि उभय स्थानीय वस्तुओं की अयथार्थता स्वीकार की जाय, तो इन वस्तुओं की अयथार्थता का बोध किसे होता है, अथवा इनके सम्बन्ध में संकल्प-विकल्प करने वाला कौन है ? ।।११।।]

१२

कल्पयत्यात्मनात्मानं आत्मा देवःस्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदान् इति वेदान्तनिश्चयः ।।१२।।

[आत्मा (देव) अपनी माया से स्वयं अपने-आप से अपनी कल्पना करता है। वह ही वस्तुओं के अयथार्थ-रूप को जानता है—यही वेदान्त का निश्चय है ।।१२।।]

१३

विकरोत्यपरान् भावान् अन्तश्चित्तेऽव्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ।।१३।।

[जो चित्त में व्यवस्थित नहीं हैं, ऐसे अपर भावों (=रूपों) को और जो चित्त से बाहर के नियत भाव (=रूप) हैं उन सब की प्रभु (=चित्त) कल्पना करता है।।१३।।]

१४

चित्तकालाश्च येन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥१४॥

[जो अन्तःस्थित भाव हैं, और जो चित्तक्षण भर विद्यमान रहते हैं, जो बहिस्थित हैं और जो उतनी ही देर रहते हैं जितनी देर ग्राह्य-ग्राहक का भेद बना रहता है, वे सभी केवल कल्पित हैं। इस विषय में किसी अन्य हेतु से कुछ भी विशेष नहीं हैं ॥१४॥]

१५

अव्यक्ता एव ये अन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥१५॥

[जो आन्तरिक (=मनके) अनुभव हैं वे अव्यक्त है; जो बाह्य (=इन्द्रियों के) अनुभव हैं वे स्पष्ट हैं; किन्तु ये दोनों प्रकार के अनुभव कल्पित ही हैं। उन दोनों में जो भिन्नता है वह इन्द्रियभेद के ही कारण है ॥१५॥]

१६

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथगविधान ।
बाह्यान् आध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यास्तथास्मृतिः ॥१६॥

[पहले जीव (=आत्मा) की कल्पना करता है, तथा बाह्य तथा भीतरी नानाप्रकार के अस्तित्वों की कल्पना करता है। जैसा ज्ञान होता है वैसी ही स्मृति होती है ॥१६॥]

१७

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥१७॥

[जिस प्रकार अन्धेरे में, रज्जु का निश्चित ज्ञान न होने पर सर्प तथा जलधारा आदि के विकल्प पैदा होते हैं, उसी प्रकार यह 'आत्मा' की कल्पना है ॥१७॥]

१८

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वद् आत्माविनिश्चयः ॥१८॥

[जिस प्रकार रज्जु का निश्चित ज्ञान हो जाने पर विकल्पों का नाश हो जाता है; और यह निश्चय हो जाता है कि 'रज्जु' के अतिरिक्त और कुछ नहीं; उसी प्रकार यह 'आत्मा' का विकल्प नष्ट हो जाता है ॥१८॥]

१९

प्राणादिभिर्अनन्तैस्तु भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य ययायं मोहितः स्वयं ॥१९॥

[प्राण आदि अनन्त अस्तित्वों (=भावों) से इस 'आत्मा' की कल्पना की गई है। यह उस पुरुष (=देव) की अपनी माया है, जिससे वह स्वयं मोह-ग्रस्त (=मूढ़) बन गया है ॥१९॥]

२०

प्राणाति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीतिच तद्विदः ॥२०॥

['प्राणों' के जानकार 'प्राण' को ही 'आत्मा' समझते हैं, पंच 'महाभूतों' के जानकार पांच महाभूतों को ही 'आत्मा' समझते हैं तथा तत्त्वोंके जानकार तत्त्वोंको ही 'आत्मा' समझते हैं ॥२०॥]

२१

पादाति पादविदो विषयाति तद्विदः ।
लोकाति लोकविदो देवातिच तद्विदः ॥२१॥

[जो पादों के जानकार हैं, वे पादों (१/४) को ही आत्मा समझते हैं, जो विषयों (=इन्द्रियों के विषयों) के जानकार हैं, वे विषयों को ही आत्मा समझते हैं; जो लोकों के जानकार हैं, वे लोकों को ही 'आत्मा' समझते हैं तथा जो देवताओं के जानकार हैं, वे देवताओं को ही आत्मा समझते हैं ॥२१॥]

२२

वेदाति वेदविदो यज्ञातिच तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यंति च तद्विदः ॥२२॥

[जो वेदों के जानकार हैं, वे 'वेदों' को 'आत्मा' समझते हैं, जो यज्ञों के जानकार हैं, वे यज्ञों को 'आत्मा' सझमते हैं, जो 'भोक्ता' के जानने वाले हैं वे 'भोक्ता' को 'आत्मा' समझते हैं तथा जो 'भोज्य' के जानने वाले हैं वे 'भोज्य' को 'आत्मा' समझते हैं ॥२२॥]

२३

सुक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदो ऽमूर्त इति च तद्विदः ॥२३॥

[जो 'सूक्ष्म' के जानकार हैं, वे 'सूक्ष्म' को आत्मा समझते हैं, जो 'स्थूल' के जानकार हैं वे 'स्थूल' को आत्मा समझते हैं, जो 'मूर्त' के जानकार हैं वे 'मूर्त' को 'आत्मा' समझते हैं तथा जो 'अमूर्त' के जानकार हैं वे 'अमूर्त' को 'आत्मा' समझते हैं ॥२३॥]

२४

काल इति कालविदो दिशा इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥२४॥

[जो 'काल' के जानकार हैं, वे 'काल' को 'आत्मा' समझते हैं, जो 'दिशा' के जानकार हैं वे दिशा को 'आत्मा' समझते हैं, जो 'वाद' के जानकार हैं वे 'वाद' को 'आत्मा' समझते हैं तथा जो 'भुवनों' के जानकार हैं वे भुवनों को 'आत्मा' समझते हैं ॥२४॥]

२५

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तं इति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥२५॥

[जो 'मन' के जानकार हैं, वे 'मन' को 'आत्मा' समजझते हैं जो 'बुद्धि' के जानकार हैं वे 'बुद्धि' को 'आत्मा' समझते हैं, जो चित्त के जानकार हैं, वे 'चित्त' को 'आत्मा' समझते हैं, जो 'धर्म' के जानकार हैं वे धर्म को 'आत्मा' समझते हैं और जो 'अधर्म' के जानकार हैं वे 'अधर्म' को 'आत्मा' समझते हैं ॥२५॥]

२६

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥२६॥

[कुछ कहते हैं कि 'आत्मा' पच्चीस तत्त्वों की है, कुछ कहते हैं छब्बीस तत्त्वों की है, कुछ कहते हैं इकत्तीस तत्त्वों की हैं, कुछ कहते हैं अनन्त तत्त्वों की है ॥२६॥]

२७

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरं अथापरे ॥२७॥

[जो 'लोक' के जानकार हैं, वे 'लोक' को 'आत्मा' कहते हैं, जो 'आश्रमों' के जानकार हैं, वे 'आश्रमों' को आत्मा कहते हैं, जो 'लिङ्ग' के, जानकार हैं, वे स्त्रिलिङ्ग, पुलिङ्ग तथा नपुंसकलिंग को 'आत्मा' कहते हैं, और कुछ अन्य लोग 'पर' तथा 'अपर' को 'आत्मा' कहते हैं ॥२७॥]

२८

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वं चेह तु सर्वदा ॥२८॥

[जो 'सृष्टि' के जानकार हैं, वे 'सृष्टि' को 'आत्मा' कहते हैं, जो 'लय' के जानकार हैं वे 'लय' को 'आत्मा' कहते हैं; जो 'स्थिति' के जानकार हैं, वे 'स्थिति' को 'आत्मा' कहते हैं—ये सब कल्पनायें यहां सर्वदा विद्यमान हैं ॥२८॥]

२९

यं भावं दर्शयेत् यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति भूतवासौ तद्ग्रहः समुपैति तं ॥२९॥

[जिसके सामने जो वस्तु (=भाव) आती है, वह उसी वस्तु को 'आत्मा' समझ बैठता है। वह उसे सन्तुष्ट करती है, उसकी आसक्ति उसे वही बना देती है ॥२९॥]

३०

एसैर्एषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत् सोऽविशङ्कितः ॥३०॥

[इन वस्तुओं (=भावों) के अपृथक रहते भी वह नाना प्रकार का भासता है। इस बातको जो यथार्थ रूपसे जानता है, वही असंदिग्ध होकर विचार कर सकता है ॥३०॥]

३१

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वं इदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥३१॥

[जैसे स्वप्न दिखाई देता है, जैसे माया दिखाई देती है, जैसे गन्धर्व-नगर होता है, उसी प्रकार 'वेदान्त' के अनुसार (?) बुद्धिमान आदमियों को यह विश्व दिखाई देता है ॥३१॥]

३२

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥३२॥

[न विरोध है, न उत्पत्ति है, न बन्धा हुआ है, न साधक है, न मोक्ष की कामना करने वाला है, न मुक्त है यही परमार्थ सत्य है ॥३२॥]

३३

भावैर्असद्भिरेवायं अद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद् अद्वयता शिवा ॥३३॥

[अद्वय के आधार से ही तथा असत् वस्तुओं (=भावों) के हिसाब से ही 'आत्मा' की कल्पना की गई है। अद्वय के आधार से ही वस्तुओं (=भावों) की कल्पना की गई है--इसलिये अद्वयता ही कल्याणकर है ॥३३॥]

३४

नान्यभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।
न पृथंनापृथक् किञ्चिद् इति तत्त्वविदो विदुः ।।३४।।

[यह जो 'आत्मा' के नाना रूप हैं, यह न तो अन्य-भाव की दृष्टि से हैं, न स्वकीय-भाव की दृष्टि से हैं, न पृथक हैं, न अपृथक् हैं—इसे यथार्थ तत्व के जानकार जानते हैं ।।३४।।]

३५

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपंचोपशमोऽद्वयः ।।३५।।

[जो राग-भय-क्रोध से रहित हैं, जो वेदपार पहुँचे हैं, उन्हों ने इस अद्वय, निर्विकल्प, प्रपंचोशमन रूप तत्वको देखा है ।।३५।।]

३६

तस्माद् एवं विदित्वैनं अद्वैते योजयेत स्मृतिं ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जड़वल्लोकं आचरेत् ।।३६।।

[इस लिये ऐसा जानकर अपनी स्मृति (=ध्यान) को अद्वय (=अद्वैत) में लगाये । अद्वय (=अद्वैत) को प्राप्त कर लोक के प्रति जड़ वत् व्यवहार करे ।।३६।।]

३७

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवत् ।।३७।।

[न स्तुति करे, न नमस्कार करे, न 'स्वधा' करे, अनिश्चित गृह वाला होकर, यति को यथा-रुचि भ्रमण करने वाला होना चाहिये ।।३७।।]

३८

तत्त्वं आध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वाद् अप्रच्युतो भवेत् ।।३८।।

[अपने भीतर यथार्थ तत्त्व की बात जानकर, अपने बाहर यथार्थ तत्त्व की बात जानकार, तत्त्वमय होकर, तत्त्वप्रसन्न होकर, उस तत्त्व-ज्ञान में स्थिर रहे ।।३८।।]

यह गौड़पादीय आगम-शास्त्र का 'वैतथ्य'
द्वितीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

तृतीय परिच्छेद :

१

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेर्अजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ।।१।।

[धर्म उपासनाश्रित है, और 'ब्रह्म' के पैदा होने पर पैदा होता है। ब्रह्म की उत्पत्ति से पूर्व सब कुछ अज (=जन्म-रहित) है। इस लिये 'धर्म' को "बिचारा" कहा गया है ।।१।।]

२

अतो वक्ष्यामि अकारपण्यं अजाति समतां गतं ।
यथा न जायते किञ्चिज्जायमानं समंततः ।।२।।

[इस लिये हम उस 'अकृपण-अवस्था' को कहेंगे, जहां जाति नहीं है, और जो सर्वत्र जाति-रहित है। जो कुछ चारों ओर जन्म ग्रहण करता (प्रतीत होता) है, वह वास्तव में कुछ भी जन्म ग्रहण नहीं करता ।।२।।]

३

'आत्मा' ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैईवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतं निदर्शनं ।।३।।

[जैसे आकाश से 'घटाकाश' होता है, (किन्तु उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है,) उसी प्रकार अंगों के संघात से यह 'आत्मा' की कल्पना होती है, जिसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है ।।३।।]

४

घटादिसु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥४॥

[घड़े आदिके नष्ट होने पर जिस प्रकार घटाकाश आदि आकाशमें 'लीन' हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जीवआत्मा 'आत्मा में' लीन हो जाता है, ॥४॥]

५

यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवा सुखादिभिः ॥५॥

[जिस प्रकार एक घड़े (=घटाकाश) को धूल या धुआं लगने से सभीको नहीं लगता, उसी प्रकार (क्योंकि) एक 'जीव' के 'सुखी' होने पर सब 'सुखी' और एक के 'दुखी' होने पर सब दुखी नहीं होते; (इस लिये 'आत्मा' का तात्विक अस्तित्व नहीं) ॥५॥]

६

रूपाकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेसु निर्णयः ॥६॥

[जिस प्रकार घड़ों (=वस्तुओं) के रूप, कार्य तथा नाम जहां तहाँ भिन्न भिन्न होने पर भी 'आकाश' में किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ता उसी प्रकार जीवों के बारे में भी निर्णय है (इस लिये 'आत्मा' का तात्विक अस्तित्व नहीं ॥६॥]

७

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥७॥

[जिस प्रकार 'घटाकाश' 'आकाश' का न 'विकार' है न 'अवयव' है, उसी प्रकार जीव (=आत्मा), आत्मा (=ब्रह्म) का न 'विकार' है, न 'अवयव' है; अर्थात् 'आत्मा' है ही नहीं ॥७॥]

८

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानां आत्मापि मलिनो मलैः ॥८॥

[जैसे मूर्खों को 'मल' से गगन भी मलिन प्रतीत होता है, उसी प्रकार मूर्खों को आत्मा (=ब्रह्म) भी मल से मलिन प्रतीत होता है ॥८॥]

९

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोर्अपि ।
स्थितः सर्वशरीरेषु आकेशेनैव लक्षणः ।।९।।

[मृत्यु होनेपर, जन्म होनेपर, जाना होनेपर, आना होनेपर, सर्व शरीरों में आकाशवत् 'ब्रह्म' ही स्थित है ।।९।।]

१०

सङ्घाताः स्वप्नवत् सर्वे आत्ममाया विसर्जितः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ।।१०।।

[ये जितने भी अंग-समूह (=व्यक्तित्व) हैं, ये सभी स्वप्न के समान हैं। ये 'माया' के परिणाम हैं। यहाँ न सभी संघातों की 'समानता' की कोई उपपत्ति है और न किसी की कमी-वेशी की ।।१०।।]

११

रसादयो हि ये कोषा व्याख्याता तैत्तिरीयके ।
तेषां 'आत्मा' परोजीवः स यथा सम्प्रकाशितः ।।११।।

[तैत्तिरीय उपनिषद् में जिन रस (=अन्नमय) आदि पांच कोषों का वर्णन किया है, वहाँ का जो 'जीव-आत्मा' है वह भी 'परो-जीव' अर्थात् 'ब्रह्म' ही है—मतलब 'आत्मा' (=जीव आत्मा) का अस्तित्व नहीं हैं ।।११।।]

१२

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितं ।
पृथिव्यां उदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ।।१२।।

[मधु विद्या (बृहदारण्यक उपनिषद् के मधु-ब्राह्मण) में पृथ्वी तथा उदर आदि दो दो को लेकर 'आकाश' के समान 'ब्रह्म' को ही प्रकाशित किया गया है ।।१२।।]

१३

जीवात्मनोर्अनान्यत्वं अभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसं ।।१३।।

[ब्रह्म से पृथक 'जीवात्मा' का अस्तित्व न मानने की जो प्रशंसा की गई है और मानने की जो निन्दा की गई ह, इन दोनों मतों में इसी प्रकार सामञ्जस्य हो सकता है ।।१३।।]

१४

जीवात्मनोः पृथकत्वं यत् प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितं ।
भविष्यद् वृत्त्या गौणं तं मुख्यत्वं न हि युज्यते ।।१४।।

['जीवात्मा' का 'ब्रह्म' से जो पृथक अस्तित्व (सृष्टि की) उत्पत्ति के पूर्व स्वीकार किया गया है, वह भविष्यत-वृत्ति से है । उसे प्रधानता देना योग्य नहीं ।।१४।।]

१५

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ।।१५।।

[मिट्टी (से घड़ा) लोहे (से लोह-पात्र) और अग्नि-स्फुलिंग (से आग) की तरह जो सृष्टि की उत्पत्ति समझाई गई है, वह (सत्य का) बोध कराने के लिये उपाय भर है । 'ब्रह्म' से पृथक 'जीवात्मा' का कोई अस्वित्व नहीं है ।।१५।।]

१६

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयाः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं अनुकम्पया ।।१६।।

[हीन, मध्यम तथा उत्कृष्ट दृष्टि से जो तीन प्रकार के 'आश्रम' हैं, उन्हीं पर अनुकम्पा करके 'उपासना' का उपदेश किया गया है; (अन्यथा वह निरर्थक है) ।।१६।।]

१७

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म ।
परस्परं विरुद्धयन्ते तैर्अयं न विरुद्धयते ।।१७।।

[अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार 'आत्मा' का पृथक अस्तित्व मानने वाले द्वैत लोग अपने अपने मत में दृढ़ हैं । वे आपस में विवाद करते हैं । उन से हमारे इस मत का झगड़ा नहीं ।।१७।।]

१८

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषां उभयथाद्वैतं तेनायं न विरुद्धयते ।।१८।।

['द्वैत' मानने वाले 'यथार्थ' और 'व्यवहार' दोनों में द्वैत मानते है । हम अद्वैत-वादी मानते हैं कि अद्वैत (ब्रह्म से पृथक किसी 'आत्मा' के अस्तित्व का न होना ही परमार्थ (सत्य) है; और 'द्वैत' उसी का अेक भेद (=व्यवहार-सत्य) हैं; इसलिये हमारा उनका विरोध नहीं ।।१८।।]

१९

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथंचन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यतां अमृतं व्रजेत् ।।१९।।

[यह जो 'जीवात्मा' का भिन्न अस्तित्व भासता है, यह 'माया' के कारण है; क्योंकि 'अज' का अन्यथात्व किसी भी तरह सम्भव नहीं। यदि तात्त्विक दृष्टि से 'ब्रह्म' से जीव-आत्मा का पृथक अस्तित्व हो जाये, तो अमृत मृतत्व को प्राप्त हो सकता है ।।१९।।]

२०

अजातस्यैव भावस्य जातिं इच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथं इष्यति ।।२०।।

[जो विवाद-कामी हैं, वे 'अजात' को 'जात' बनाना चाहते हैं। जो 'अजात' है, वह तो 'अमृत' है; वह 'मृतत्व' को कैसे प्राप्त हो सकता है? ।।२०।।]

२१

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यं अमृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद भविष्यति ।।२१।।

[अमृत मृत-भावको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार 'मर्त्य' अमृत-भाव को प्राप्त नहीं होता, प्रकृति का अन्यथात्व किसी भी तरह नहीं होता ।।२१।।]

२२

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यतां ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ।।२२।।

[जिसके मत के अनुसार 'अमृत' स्वभाव रूपसे ही 'मृत-भाव' को प्राप्त हो सकता है; उसके मत के अनुसार कृतक-अमृत किस प्रकार निश्चल रह सकता है? ।।२२।।]

२३

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समाश्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत् तद् भवति नेतरत ।।२३।।

[जहां तक 'श्रुति' की बात है, वहां कहीं तो 'भूत' (=अस्तित्व) से 'सृष्टि' मानी गई है, कहीं 'अभूत' से। जो निश्चित है, जो युक्ति-युक्त है, वही होता है, उस से इतर नहीं ।।२३।।]

२४

नेह नानेति चाम्नायाद् इन्द्रो मायाभिईत्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ।।२४।।

[शास्त्र (=आम्नाय) के इस कथन से कि यहां 'नाना नहीं है' और इस विरोधी-कथन से कि 'इन्द्र माया के द्वारा' यही समन्व्यात्मक अर्थ निकलता है कि वह 'अजन्मा' होने पर भी 'माया' के कारण जन्म ग्रहण करता (प्रतीत होता) है ।।२४।।]

२५

सम्भूतेर्अपवादाच्च सम्भवः प्रतिसिद्धयते ।
कोन्वेनं जनयेत् इति कारणं प्रतिसिद्धयते ।।२५।।

[श्रुति द्वारा सम्भूति (=उत्पत्ति) का खण्डन होने से उत्पत्ति का निषेध होता है, और 'इसे कौन उत्पन्न करे' इस श्रुति-वाक्य से उत्पत्ति के कारण का भी निषेध होता है ।। २५ ।।]

२६

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वं अग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ।।२६।।

[क्योंकि श्रुति 'नेति नेति' कहकर जो व्याख्यात है, उसीका निषेध करती है, इसलिये सभी के अग्राह्य-भाव-हेतु के कारण 'अज' प्रकाशित होता है ।।२६।।]

२७

सतो हि मायया जन्म जुज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ।।२७।।

[जो 'है' उस से फिर 'जन्म' होने की बात 'माया' की दृष्टि से ही ठीक मानी जा सकती है, तात्विक दृष्टि से नहीं । क्योंकि जिसके मत में तत्त्वतः जन्म होता है, तो फिर उसका यही मतलब है कि जो 'जात' है, उसीका जन्म होता है ।।२७।।]

२८

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ।।२८।।

[जो 'नहीं है' उस से न 'मायावी जन्म' स्वीकार किया जा सकता है, न 'तात्विक-जन्म' । वन्ध्या-पुत्र न माया से सम्भव है, न तत्त्व से ।।२८।।]

२९

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रत द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।।२९।।

[जिस तरह से 'माया' के कारण स्वप्न में मन को द्वयाभास (द्रष्टा और दृश्य का आभास) होता है, उसी प्रकार माया के ही कारण जाग्रत अवस्था में भी मन को द्वयाभास (=द्रष्टा और दृश्य का आभास) होता है ।।२९।।]

३०

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जागरन् न संशयः ।।३०।।

[इस में संशय नहीं कि स्वप्न में मन अद्वय को ही द्वय करके देखता है। इसी प्रकार इस में भी संशय नहीं कि जागरन में भी मन अद्वय को ही द्वय करके देखता है ।।३०।।]

३१

मनोदृश्यं इदं द्वैतं यत् किंचित् सचराचरं ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।३१।।

[जितना भी यह सचराचर जगत है, इस का 'द्वैत' मानोमय है । जब मन अपना 'मनन' करने का धर्म छोड़ दे, तो 'द्वैत' नहीं रहता ।।३१।।]

३२

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहात ।।३२।।

[जब ब्रह्म (=आत्मा) का साक्षात हो जाने पर मन संकल्प-विकल्प से मुक्त हो जाता है, तब वह अमनस-पन को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि जब ग्रहण करने वाला नहीं रहा तो ग्राह्य भी कहां रहेगा ? ।।३२।।]

३३

अकल्पकं अजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्म ज्ञेयं अजं नित्यं अजेनाजं विबुध्यते ।।३३।।

[संकल्प-विकल्प-विहीन ज्ञेय से अभिन्न ज्ञान (=मन) को अजन्मा कहा गया है। 'ब्रह्म' ज्ञेय 'नित्य' है, 'अज' से 'अज' का बोध होता है।।३३।।]

३४

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ।।३४।।

[जो धीमान् है, जिसने अपने मन को जीत लिया है, जो संकल्प-विकल्प-रहित है, ऐसे (पुरुष) के मन की अवस्था (=प्रचार) ज्ञेय है। यह सुषुप्ति अवस्था से भिन्न होती है। यह उसके समान नहीं होती ।।३४।।]

३५

लीयते हि सुषप्ते तं निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं 'ब्रह्म' ज्ञानालोकं समन्ततः ।।३५।।

[सुषुप्ति अवस्था में मन 'लीन' हो जाता है; निगृहीत अवस्थामें मन 'लीन' नहीं होता। उसीको निर्भय 'ब्रह्म' कहते हैं, वह चारों ओर से ज्ञान से आलोकित है ।।३५।।]

३६

अजं अनिद्रं अस्वप्नं अनामकं अरूपकं ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।।३६।।

[अज है, अ-निद्र है, अ-स्वप्न है अ-नामक है, अ-रूपक है—एक बार ही प्रकाशित है, सर्वज्ञ है; इस समाधि में किसी भी तरह की 'उपचार' समाधि शेष नहीं रहती ।।३६।।]

३७

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ।।३७।।

[सभी अभिव्यक्तियों से परे, सभी प्रकार के चिन्तन से मुक्त, सुप्रशान्त, एक ही बार में प्रकाशित, अचल, अभय—यह—समाधि है ।।३७।।]

३८

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानं अजाति समतां गतं ।।३८।।

[वहां चिन्तन नहीं रहता, वहां न किसी वस्तु का ग्रहण होता है, न त्याग होता है; उस समय चित्त (=ज्ञान) अपने में स्थित रहता है, अजन्मा (=अजाति) होता है, समता को प्राप्त होता है ।।३८।।]

३९

अस्पर्शयोगो नामैषा दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।।३९।।

[यह 'अस्पर्शयोग' नामक 'योग' है । सभी 'योगी' इस तक नहीं पहुंच सकते । अभय-स्थान में भी 'भय' देखने वाले योगी, इस से डरते हैं ।।३९।।]

४०

मनसो निग्रहायत्तं अभयं सर्वयोगिणां ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षय शान्तिरेव च ।।४०।।

[सभी योगियों की निर्भयता, दुःख-क्षय, ज्ञान-प्राप्ति तथा अक्षय शान्ति मन के निग्रह के ही आधीन है ।।४०।।]

४१

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तावद् भवेदपरिखेदतः ।।४१।।

[जिस प्रकार कुशा ग्रास की नोक पर एक एक बून्द लेकर समुद्र का समाप्त करना असम्भव-प्राय है, उसी प्रकार बिना असाधारण प्रयत्न के मन का निग्रह करना असम्भव-प्रायः है ।।४१।।]

४२

उपायेन निगृह्णीयाद् विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ।।४२।।

[काम (=कामना)तथा भोगों से विक्षुब्ध हुये चित्त को उपाय से काबू में लाये । उसी प्रकार लीन (=निद्रा) अवस्था में प्रसन्न चित्त को भी संभाले; क्योंकि कामनाओं का विक्षोभ जैसे अवांछनीय है, वैसे ही लीनता (=मानसिक-निद्रा) भी ।।४२।।]

४३

दुःखं सर्वं अनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वं अनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ।।४३

['सब दुःख है' इसका पुनः पुनः स्मरण कर काम-भोगों से विरक्त हो । जब कोई पुनः पुनः स्मरण करता है कि 'सब अज (=अजन्मा) है', तो उसे जात (=उत्पन्न-कामभोग) दिखाई ही नहीं देते ।।४३।।]

४४

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शामयेत् पुनः ।
सकशायं विजानियाच्छम प्राप्तं न चालयेत् । ४४।।

[जब चित्त लीन (=तन्द्रा) – अवस्था को प्राप्त हो, तो उसे जाग्रत कर ले, जब विक्षोभ को प्राप्त हो तो उसे शान्त कर ले; अपने कशाय (=चित्तमलों) को जाने । शान्त, चित्त को फिर चञ्चल न होने दे ।।४४।।]

४५

नास्वादयेत सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तं एकी कुर्यात् प्रयत्नतः ।।४५।।

[योग साधना के मध्य में जो 'सुख की' अनुभूति होती है, उसका 'मजा' न लेता रहे, अपनी प्रज्ञा से आसक्ति-रहित अवस्था को प्राप्त करे । यदि निश्चल चित्त चञ्चल हो जाय तो उसे फिर प्रयत्न से एकाग्र कर ले ।।४५।।]

४६

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिंगनं अनाभासं निष्पन्नं 'ब्रह्म' तत् तदा ।।४६।।

[जब चित्त लीन (=निद्रा)–अवस्थाको भी प्राप्त नहीं होता और पुनः क्षुब्ध भी नहीं होता; जब इंगन (=चञ्चल)–रहित अवस्था को प्राप्त हो जाता है; तथा जब आभास (=प्रतिछाया)–मुक्त हो जाता है, तब उसे 'ब्रह्म' कहते हैं ।।४६।।]

४७

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणं अकथ्यं सुखं उत्तमं ।
अजं अजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ।।४७।।

[अपने में ही स्थित, शान्त सनिर्वाण, अकथ्य, उत्तम-सुख, अज, ज्ञेय 'अज' का पर्य्याय, जो चित्त है वह 'सर्वज्ञ' कहलाता है ।।४७।।]

४८

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत् तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ।।४८।।

[कोई जीव (=आत्मा) जन्म ग्रहण नहीं करता, यह सम्भव ही नहीं है । यह कहीं किसी का जन्म न होने की जो स्थिति है, वहीं उत्तम सत्य है ।।४८।।]

यह गौड़पादीय आगम शास्त्रका "अद्वैत" नामक
तृतीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

चतुर्थ परिच्छेदः

१

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्ध तं वन्दे द्विपदां वरं ।।१।।

[ज्ञेय-से-अभिन्न, आकाश के समान विस्तृत ज्ञान से जिन्होंने गगनोपम धर्मों (=संस्कृत तथा असंस्कृत धर्मों) का बोध प्राप्त किया उन द्विपदों में श्रेष्ठ तथागत (=बुद्ध) को मेरा नमस्कार है ।।१।।]

२

'अस्पर्शयोगो' वै नाम सर्वसत्त्वसुखोहितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितास्तं नमाम्यहं ।।२।।

[सभी प्राणियों के लिये सुखदायक तथा हितकर, विवाद-रहित, विरोध-रहित 'अस्पर्श योग' नाम के योग का जिन्होंने उपदेश दिया उन तथागत (=बुद्ध) को मेरा नमस्कार है ।।२।।]

३

भूतस्य जातिं इच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परं ।।३।।

[कोई कोई वादी कहते हैं कि भूत (=सत्) से ही उत्पत्ति होती है, अन्य धीर (–जन) कहते है कि अभूत (=असत्) से उत्पत्ति होती है—इस प्रकार वे परस्पर विवाद करते हैं ।।३।।]

४

भूतं न जायते किञ्चिद अभूतं नैव जायते ।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवं अजातिं ख्यापयन्ति ते ।।४।।

[भूत(=सत) से कुछ उत्पन्न नहीं होता, अभूत (=असत्) से भी उत्पन्न नहीं होता; इन के मत का खण्डन कर जो अद्वय-वादी अर्थात् बौद्ध हैं, वे अजातिं (=अनुत्पत्ति) की ही बात कहते हैं ।।४।।]

५

ख्याप्यमानं अजातिं तैर्अनुमोदामहे वयं ।
विवदामो न तैं सार्धं अविवादं निबोधत ।।५।।

[उन (बौद्धों) का जो अजाति (=अनुत्पत्ति) विषयक कथन है, उसका हम अनुमोदन करते हैं, हम उनके साथ विवाद नहीं करते । हमारे अविवाद का कारण सुनो ।।५।।]

६

अजातस्यैव धर्मस्य जातिं इच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यअमृतो धर्मो मर्त्यतां कथं इष्यति ।।६।।

[मत-विशेष के आग्रही अजात (=अनुत्पन्न) से उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं । अंजात तो अ-मृत है, वह, मृत्युपन को कैसे प्राप्त हो सकता है ? ।।६।।]

७

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यं अमृतं तथा ।
प्रकृतेऽन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।७।।

[अ-मृत मृत नहीं होता, और मृत अ-मृत नहीं होता। प्रकृति (=स्वभाव-धर्म) का अन्यथा भाव कभी नहीं होता ।।७।।]

८

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यतां ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ।।८।।

[जिस मत के अनुसार अपनी स्वाभाविक अवस्था में भी अ-मृत मर्त्यता को प्राप्त हो जाता है, उसी मत के अनुसार अपनी कृतक-अवस्थामें अ-मृत स्थिर कैसे रह सकता है ? ।।८।।]

९

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजाप्यकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेय्या स्वभावं न जहाति या ।।९।।

[जो स्वयं-सिद्ध है, जो स्वाभाविक है, जो सहजा है, जो अकृता है, जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ती, उसी को 'प्रकृति' जानना चाहिये ।।९।।]

१०

जरा मरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरा मरणं इच्छन्ता श्च्यन्ते तन्मनीषया ।।१०।।

[सभी धर्म (संस्कृत धर्म+असंस्कृत धर्म) स्वभावतः जरा तथा मरण से परे हैं । जो जरा-मरण का होना मानते हैं, वे अपनी उसी मान्यता के कारण जरा मरण को प्राप्त होते हैं ।।१०।।

११

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथं अजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ।।११।।

[जिसके मत में कारण ही कार्य्य है, उसे यह स्वीकार करना होगा कि कारण जन्मता है । जो जन्मता है वह 'अजन्मा' (=अज) कैसे हो सकता है ? वह (अपने कार्य्य) से भिन्न कैसे हो सकता है ? और वह 'नित्य' कैसे हो सकता है ? ।।११।।]

१२

कारणात यत् अनन्यत्वं अतः कार्य्यं अजं यदि ।
जायमाद्द्हि वै कार्य्यात् कारणं कथं ध्रुवं ।।१२।।

[यदि आपका यह मत है कि कार्य्य भी अजन्मा (=अज) है क्योंकि उसकी कारण से भिन्नता नहीं है; तो आपके मत के अनुसार यह कैसे है कि कार्य्य के जायमान होने पर भी कारण ध्रुव है ? ।।१२।।]

१३

अजात् वै जायते यस्यं दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ।।१३।।

[जिसके मत में अजन्मा (=अज) से उत्पत्ति होती है, उसका वह निश्चय से कोई दृष्टान्त नहीं दे सकता; और जायमान से ही उत्पत्ति मान लेने से अनवस्था-दोष पैदा होता है ।।१३।।]

१४

हेतोरादि फलं येषां आदिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ।।१४।।

[जिनके मत में 'फल' 'हेतु' का आदि कारण है, और 'हेतु' 'फल' का आदि-कारण है, वे 'हेतु' तथा 'फल' दोनों को अनादि कैसे कह सकते हैं ? ।।१४।।]

१५

हेतोरादि फलं येषां आदिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत् तेषां पुत्रज जन्म पितुर्यथा ।।१५।।

[जिनके मत में 'फल' हेतु का आदि है और 'हेतु' फल का आदि है, उनके मत के अनुसार किसी भी वस्तु का जन्म वैसे ही हो सकता है जैसे पुत्र से पिता का जन्म ।।१५।।]

१६

सम्भवे हेतुफलयो एषितव्यः क्रमः त्वया ।
युगपत् सम्भवे यस्मात् असम्बन्धो विषाणवत् ।।१६।।

[उत्पत्ति (=सम्भव) मानने पर हेतु फल का क्रम खोजना ही होगा। यदि कहो कि हेतु तथा फल दोनों युगपत् हैं तो उन दोनों का परस्पर उसी प्रकार कोई सम्बन्ध नहीं जैसे (बैल के) सींगों का ।।१६।।]

१७

फलात् उत्पद्यमानः सन् न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलं उत्पादयिष्यति ।।१७।।

[तुम्हारा जो 'हेतु' फल से उत्पन्न होने वाला है, वह कभी अस्तित्व में नहीं आ सकता। जब हेतु ही नहीं है तो वह 'फल' कैसे उत्पन्न करेगा ? ।।१७।।]

१८

यदि हेतोः फलात् सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत् पूर्वं उत्पन्नं यस्य सिद्धिअपेक्षया ।।१८।।

[यदि 'फल' से 'हेतु' की उत्पत्ति (=सिद्धि) है, और 'हेतु' से 'फल' की उत्पत्ति है, तो दोंनो में कौन पूर्व है जिसकी अपेक्षा से दूसरे की उत्पत्ति होती है ? ।।१८।।]

१९

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रम-कोपोऽथवा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ।।१९।।

['अशक्ति' होने से, 'अपरिज्ञान' होने से, 'क्रम' में गड़बड़ी होने से—इन कारणों से बुद्धों ने 'अजाति' की देशना की है ।।१९।।]

२०

बीजांकुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि नः ।
न च साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ।।२०।।

[(तुम्हारा) बीजांकुर का दृष्टान्त हमारे लिये साध्य के ही समान है। जो स्वयं साध्य के समान है ऐसा हेतु 'साध्य' की सिद्धि (=प्रमाण) में उपयुक्त नहीं ।।२०।।]

२१

पूर्वापरापरिज्ञानं अजातेः परिदीपकं ।
जायमानाद् धि वै धर्मात् कथं पूर्वं न गृह्यते ।।२१।।

[पूर्व (–कोटि) तथा पर (–कोटि) का अज्ञान 'अजाति' का समर्थक है। यदि धर्म उत्पन्न होते हैं, तो यह कैसे है कि उनकी पूर्व-कोटि का ज्ञान नहीं होता ?।।२१।।]

२२

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद् वस्तु जायते ।
सदसत् सदसद् वापि न किंचिद् वस्तु जायते ।।२२।।

[न अपने में से ही कोई चीज उत्पन्न होती है, न पर (=अन्य) में से ही कोई चीज उत्पन्न होती है; न विद्यमान (=सत्) से कोई चीज उत्पन्न होती है, न अविद्यमान (=असत्) से, न विद्यमानाविद्यामान (=सदसद्) से कोई चीज उत्पन्न होती है ।।२२।।]

२३

हेतुर्न जायतेऽनादिः फलं वापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य जातिर्न विद्यते ।।२३।।

[जिसका 'आदि' नहीं, स्वाभाविक तौर से, उसका न 'हेतु' है, न फल है । जिसका 'आदि' नहीं, उसकी जाति (=जन्म) भी नहीं ।।२३।।]

२४

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं अन्यथा द्वयनाशतः।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥२४॥

[प्रज्ञप्ति (=किसी भी पदार्थ का नाम) के होने से उसका निमित्त (=यथार्थ वस्तु) भी सिद्ध होता है; अन्यथा दोनों का नाश सिद्ध होता है। इस प्रकार संक्लेश (=चित्त का मैल) की उपलब्धि भी इस बात को सिद्ध करती है कि वह परतन्त्र है; अर्थात् जाति (=उत्पत्ति) सिद्ध होती है ॥२४॥]

२५

इस आपत्ति का निराकरण—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं इष्यते युक्तिदर्शनात्।
निमित्तस्यानिमित्तत्वं इष्यते भूतदर्शनात् ॥२५॥

[उक्त उक्ति के अनुसार यह इष्ट है कि 'प्रज्ञप्ति' का 'निमित्त' भी स्वीकार किया जाय, किन्तु यथार्थ-ज्ञान के अनुसार हमें यही कहना इष्ट है कि 'निमित्त'-वास्तव में 'निमित्त' नहीं ही है ॥२५॥]

२६

चित्तं न संस्पर्शत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतस्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक ॥२६॥

[चित्त यथार्थ में किसी भी अर्थ (=वस्तु) का स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार किसी अर्थाभास (=वस्तु-छाया) का भी स्पर्श नहीं करता। जब अर्थ (=वस्तु) ही अभूत (=अयथार्थ) है, तो अर्थाभास का भी पृथक अस्तित्व नहीं ही है ॥२६॥]

२७

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पर्शत्यध्वसु त्रिषु।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥२७॥

[चित्त (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) तीनों कालों में किसी निमित्त (=वस्तु) का स्पर्श नहीं करता; जब निमित्त (=वस्तु) का ही अस्तित्व नहीं तो उसके विपर्यास (=मिथ्या-छाया) का अस्तित्व कहां से होगा ?॥२७॥]

२८

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदं ॥२८॥

[इसलिये न तो चित्त की ही उत्पत्ति होती है और न चित्त के विषयों (=चित्त-दृश्य) की। जिन्हें चित्त की उत्पत्ति (=जाति) दिखाई देती है, उन्हें आकाश में चिह्न दिखाई देता है ॥२८॥]

२९

अजातं जायते यस्माद् अजातिः प्रकृतिस्तथा ।
प्रकृतेर्अन्यथाभावो न कथंचिद् भविष्यति ।।२९।।

[क्योंकि उत्पत्ति (=जाति) मानने वालों के मत के अनुसार 'अजात' से ही 'उत्पत्ति' होती है इस से सिद्ध हुआ कि 'अजाति' ही स्वभाव (=प्रकृति) है। प्रकृति का परिवर्तन (=अन्यथाभाव) किसी तरह नहीं होगा ?।।२९।।]

३०

अनादेर्अन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ।।३०।।

[अनादि संसार का सान्त माना जाना संभव नहीं, उसी प्रकार जिस मोक्ष का आदि है उसका भी अनन्त माना जाना संभव नहीं ।।३०।।]

३१

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ।।३१।।

[जो न 'आदि' में है, न 'अन्त' मे है, वह वर्तमान में भी नहीं है; अवास्तविक के समान होने पर भी वास्तविक के समान प्रतीति होती है ।।३१।।]

३२

सप्रयोजनता तेषां स्वप्नेऽपि प्रतिपद्यते ।
तस्माद् आद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृतः ।।३२।।

[स्वप्न में होने वाले अनुभव भी निष्प्रयोजन नहीं होते; इसलिये उनका 'आदि' और 'अन्त' होने से वे मिथ्या ही माने गये हैं ।।३२।।]

३३

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर निदर्शनात ।
संवृतेऽस्मिन प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ।।३३।।

[शरीर के अन्दर स्वप्न में दिखाई देने वाले सभी दृश्य (=धर्म) मिथ्या होते हैं। इस सीमित-प्रदेश (शरीर) में दृश्य-पदार्थों का होना कहां सम्भव है ?।।३३।।]

३४

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद् गतौ ।
प्रतिबुद्धाश्च वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते ।।३४।।

[चलकर जाने से (स्वप्न में) जो दर्शन होता है वह गमनमें समय की मर्य्यादा होने से योग्य (=तर्क-संगत) नहीं। आँख खुलने पर कोई भी अपने आपको उस प्रदेश में नहीं पाता ।।३४।।]

३५

मित्राद्यैः सह सम्मन्त्रय प्रबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत् किंचित् प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।३५।।

[(स्वप्न में) जिन मित्रों आदि से मन्त्रणा करता है, जागने पर वे नहीं मिलते, और भी जो कुछ (स्वप्न में) ग्रहण करता है वह भी जागने पर दिखाई नहीं देता ।।३५।।]

३६

स्वप्ने चावास्तुकः कायः पृथक अन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यं अवास्तुकं ।।३६।।

[स्वप्ने में जो शरीर दिखाई देता है, वह अवास्तविक है, क्योंकि अन्य शरीर का पृथक दर्शन होता है। जैसे शरीर उसी प्रकार सब चित्त-दृश्य भी अवास्तविक होते हैं ।।३६।।]

३७

ग्रहणाज्जागरित्वात तद्हेतुः स्वप्न इष्यते ।
तद्हेतुत्वाच्च तस्यैव सज्जागरितं इष्यते ।।३७।।

[(स्वप्न का) अनुभव जागरण के समान होने से ही, स्वप्न को जागरण का 'फल' (अथवा जागरण को स्वप्न का हेतु) कहा जाता है। जागरण के स्वप्न का हेतु होने के कारण जागरण स्वप्न-द्रष्टा के ही लिये वास्तविक (=सत) है ।।३७।।]

३८

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत् स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।३८।।

[जाग्रत अवस्था में अयथार्थ वस्तु (=असत) को देखने से, उसीका ध्यान रहने से स्वप्न में भी वह दिखाई देती है। स्वप्न में भी दिखाई देने पर, जाग्रत अवस्था में वह दिखाई नहीं देती ।।३८।।]

३९

विपर्यासाद् यथा जाग्रत अचिन्त्यान् भूतवत् स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद् धर्मांस्तत्रैव पश्यति ।।३९।।

[जैसे जाग्रत अवस्था में भी विपर्य्य होने से अचिन्त्य पदार्थ दिखाई दे सकते हैं, उसी प्रकार विपर्य्य होने से स्वप्न में भी नाना प्रकार के पदार्थ (=धर्म) वैसे ही दिखाई देते हैं ।।३९।।]

४०

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वाद् अजं सर्वं उदाहृतं ।
न च भूताद् अभूतस्य सम्भवोऽस्ति कथंचनं ।।४०।।

[उत्पत्ति का सिद्धान्त असमर्थित रहने से सर्वत्र अनुत्पत्ति (=अज) की ही चर्चा है । भूत (=विद्यमान) से अभूत (=अविद्यमान) की उत्पत्ति कभी सम्भव नहीं है ।।४०।।]

४१

नास्त्यसद्हेतुकं असत् सद् असद्हेतुकं तथा ।
सच्च सद्हेतुकं नास्ति सद्हेतुकं असत् कुतः ।।४१।।

[ऐसा 'असत्' नहीं है जिसकी उत्पत्ति 'असत्' से हुई हो; ऐसा 'सत्' भी नहीं है जिसकी उत्पत्ति 'असत्' से हुई हो; ऐसा 'सत्' भी नहीं है जिसकी उत्पत्ति 'सत्' से हुई हो; ऐसा 'असत्' कहाँ (होगा) जिसकी उत्पत्ति सत् से हुई हो ?।।४१।।]

४२

उपलम्भात् समाचाराद् अस्तिवस्तुत्ववादिनां ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैर्अजातेस्त्रस्तां सदा ।।४२।।

[इन्द्रियों के सामान्य अनुभव तथा अभ्यास के अनुसार जो लोग वस्तुओं का 'अस्तित्व' मानते हैं, ऐसे अनुत्पत्ति (=अजाति) के ज्ञान से डर जाने वाले लोगों के लिये ही बुद्धने उत्पत्ति (=जाति) की देशना की है ।।४२।।]

४३

अजातेस्त्रस्तां तेषां उपलम्भाद् वियन्ति यें ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ।।४३।।

[जो इन्द्रियों के सामान्य अनुभव के कारण भटक जाते हैं, उन अजाति (के ज्ञान) से भय मानने वालों को 'जाति' के दोष नहीं व्यापते, यदि 'दोष' व्यापे भी तो 'अल्प' ही होगा ।।४३।।]

४४

उपलम्भात् समाचारान् मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात् समाचाराद् अस्ति वस्तु तथोच्यते ।।४४।।

[जिस प्रकार इन्द्रियों के सामान्य अनुभव तथा अभ्यास के कारण माया-हस्ती का भी अस्तित्व माना जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के सामान्य अनुभव तथा अभ्यास के कारण वस्तुओं का भी अस्तित्व माना जाता है ।।४४।।]

४५

जात्यभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलं अवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तं अद्वयं ।।४५।।

[जो विज्ञान (= चित्त) शान्त है, अद्वय है, वह अज (= अजन्मा) होने पर भी उत्पत्ति (= जाति) का आभास देता है; अचल (= स्थिर) होने पर भी अस्थिरता का आभास देता है; और इसी प्रकार अवस्तु होने पर वस्तु-रूप होने का आभास देता है ।।४५।।]

४६

एवं न जायते चित्तं एवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ।।४६।।

[इस प्रकार 'चित्त' जन्म ग्रहण नहीं करता । चित्त के विषय (= धर्म) भी अजन्मा माने गये हैं । इस प्रकार जानने वाले भ्रम में नहीं पड़ते ।।४६।।]

४७

ऋजुवक्रादिकाभासं अलातं स्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानं स्पन्दितं तथा ।।४७।।

[जिस प्रकार घुमाने पर मशाल (= अलात) सीधा या टेढ़ा आदि प्रतीत होता है, उसी प्रकार विज्ञान (= चित्त) स्पन्दित होने पर ग्रहण (= विषय) तथा (विषयों के) ग्राहक (= चित्त) के रूप में प्रतीत होता है ।।४७।।]

४८

अस्पन्दमानं आलातं अनाभासं अजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानं अनाभासं अजं तथा ।।४८।।

[जिस प्रकार जो मशाल (= अलात) घुमाया नहीं जाता, उसका न आभास होता है न (उसके चक्र का) जन्म । उसी प्रकार स्पन्दन-रहित चित्त भी आभास-रहित तथा अज (= जन्म-रहित) होता है ।।४८।।]

४९

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान् नालातं प्रविशन्ति ते ।।४९।।

[मशाल के घुमाने पर जो चक्र (=आभास) उत्पन्न होता है वह अन्यत्र कहीं से उत्पन्न नहीं होता है, और जब घुमाना रुक जाता है, तब भी वह कहीं अन्यत्र नहीं जाता, और न वह मशाल में ही प्रवेश करता है ।।४९।।]

५०

न निर्गता अलातात् द्रव्यत्वाभाव योगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युर्आभासस्याविशेषतः ।।५०।।

[उन में 'द्रव्यत्व' न होने से, मशाल के चक्र मशाल से बाहर भी नहीं जाते। विज्ञान से उत्पन्न होने वाले आभास में भी कोई विशेषता न रहने से, विज्ञान से उत्पन्न भासित होने वाले आभास (=चित्त-विषय) भी विज्ञान से बाहर कहीं नहीं जाते ।।५०।।]

५१

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र विज्ञानान् न विज्ञानं विशन्ति ते ।।५१।।

[विज्ञान (=चित्त) के चञ्चल होने पर आभास (=चित्त-विषय) विज्ञान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं से उत्पन्न नहीं होते। जब विज्ञान (=चित्त) स्थिर होता है तब भी चित्त के अतिरिक्त ये अन्यत्र कहीं भी स्थित नहीं होते; और न ही वे 'विज्ञान' में प्रवेश करते हैं ।।५१।।]

५२

न निर्गतास्ते विज्ञानाद् द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
कार्यकारणताभावाद् यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ।।५२।।

[उन में 'द्रव्यत्व' न होने से वे 'विज्ञान' से बाहर भी कहीं नहीं जाते। क्योंकि कार्य-कारण भाव का भी अभाव होने से वे सदैव अचिन्त्य ही हैं ।।५२।।]

५३

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्याद् अन्यद् अन्यस्य चैवहि ।
द्रव्यत्वं अन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ।।५३।।

[द्रव्य द्रव्य का हेतु हो सकता है, एक वस्तु दूसरी वस्तु का हेतु हो सकती है,किन्तु धर्मों (=चित्त-विषयों) का द्रव्यत्व वा परस्पर भिन्न-भाव युक्तिसंगत नहीं ।।५३।।]

५४

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजं ।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ।।५४।।

[इस प्रकार न तो धर्मों (=चित्त के विषयों) की ही उत्पत्ति चित्त से हुई है और न चित्त की ही उत्पत्ति धर्मों (= चित्त-विषयों) से हुई है । इस प्रकार मनीषी जन हेतु-फल की अनुत्पत्ति (= अजाति) के सिद्धान्त में प्रवेश करते हैं ।।५४।।]

५५

यावद्धेतुफलावेशः तावद्धेतुफलोद्भवः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ।।५५।।

[जब तक हेतु-फल में आसक्ति है, तब तक हेतु-फल की उत्पत्ति है । जब हेतु-फल की आसक्ति क्षीण हो जाती है, तो हेतु-फल का उद्भव भी नहीं रहता ।।५५।।]

५६

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारो नोपपद्यते ।।५६।।

[जब तक हेतु-फल में आसक्ति है, तब तक संसार का विस्तार है । जब हेतु-फल की आसक्ति क्षीण हो जाती है, तो संसार भी सम्भव नहीं रहता ।।५६।।]

५७

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं तेन नास्ति वै ।
स्वभावेन ह्यजं सर्वं उच्छेदस्तेन नास्ति वै ।।५७।।

[व्यवहारिक (= संवृति) दृष्टि-कोण से सभी कुछ पैदा होता है, इस लिये निश्चय से शाश्वत नहीं है । (दूसरी ओर) स्वाभाविक (= तात्विक) दृष्टि से सब कुछ अनुत्पन्न (= अज) है, इसलिये निश्चय से उच्छेद नहीं है ।।५७।।]

५८

धर्मा येति जायन्ते संवृत्या ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ।।५८।।

[जिन धर्मों (= चित्त-विषयों) के बारे में यह कहा जाता है कि उनका जन्म होता है, यह कथन व्यवहारिक (= संवृति) दृष्टिकोण से ही ठीक है, न कि तात्विक दृष्टिकोण से । उनका जन्म माया के समान है, और वह माया है ही नहीं ।।५८।।]

५९

यथा मायामयाद् बीजाज्जायते तन्मयोऽकुरः ।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद् धर्मेषु योजना ॥५९॥

[जैसे मायामय बीज से मायामय अंकुर पैदा होता है । वह अंकुर न नित्य होता है, न उच्छिन्न-स्वभाव होता है, उसी प्रकार सभी धर्मों (= चित्त-विषयों) की योजना है ॥५९॥]

६०

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥६०॥

[जब सभी धर्म (= चित्त-विषय) अज (= अजन्मा) हैं तो किसी के भी शाश्वत अशाश्वत होने की बात ही नहीं बनती । जहाँ वाणी (वर्णों) की ही पहुंच नहीं, वहाँ विवेक (= भेद) करना नहीं बनता ॥६०॥]

६१

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रद् द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥६१॥

[जिस प्रकार माया के वशीभूत होने से स्वप्नावस्थामें चित्त को ग्राहक तथा ग्राह्य द्विभाव का बोध होता है, उसी प्रकार माया के वशीभूत होने से जाग्रत अवस्था में चित्त को ग्राहक तथा ग्राह्य द्विभाव का बोध होता है ॥६१॥]

६२

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं जाग्रन्न संशयः ॥६२॥

[इस में कुछ सन्देह नहीं है कि स्वप्न में अद्वय चित्त को ही (ग्राहक-ग्राह्य) द्विभाव का बोध होता है । (इसी प्रकार) इस में भी सन्देह नहीं है कि जाग्रत अवस्था में भी अद्वय चित्त को ही (ग्राहक ग्राह्य) द्विभाव का बोध होता है ॥६२॥]

६३

स्वप्नदृक प्रचरन् स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान् स्वेदजान् वापि जीवान् पश्यति यां सदा ॥६३॥

६४

स्वप्नदृक् चित्तदृश्यास्ते न विन्द्यन्ते ततः पृथक ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक् चित्तं इष्यते ॥६४॥

[दशों दिशाओं में स्थित जिन अण्डज वा स्वेदज जीवों को स्वप्न देखने वाला सदा विचरते देखता है, वे सब स्वप्न में दिखाई देने वाले जीव चित्तको दिखाई देने वाले दृश्य मात्र हैं । चित्त से पृथक उनका अस्तित्व नहीं । इसी प्रकार जो इस (चित्त) को ही दिखाई देता है वह स्वप्न-द्रष्टा का चित्त ही मानना (= इच्छा करना) चाहिये ॥६४॥]

६५

चरं जागरिते जाग्रद् दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान् स्वेदजान् वापि जीवान् पश्यति यान सदा ।।६५।।

६६

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतस्चित्तं इष्यते ।।६६।।

[दशों दिशाओं में स्थित जिन अण्डज वा स्वेदज जीवों को जाग्रत अवस्था में देखने वाला सदा विचरते देखता है, वे सब जाग्रत अवस्था में दिखाई देने वाले जीव चित्त को दिखाई देते हैं, दृश्य-मात्र हैं। चित्त से पृथक उनका कोई अस्तित्व नहीं। इसी प्रकार जो इस (चित्त) को ही दिखाई देता है वह जाग्रत-अवस्था में देखने वाले का चित्त ही मानना (= इच्छित करना) चाहिये ।।६६।।]

६७

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तद् अस्तीति चोच्यते ।
लक्षणाशून्यं उभयं तन्मतेनैव गृह्यते ।।६७।।

[वे (चित्त तथा चित्त के विषय) दोनों अन्योन्याश्रित हैं, यह तो कहा है किन्तु यह भी कहना चाहिये कि वे दोनों क्या हैं? वे दोनों लक्षण-रहित हैं। उनका ग्रहण उन से सम्बन्धित पूर्व-चेतना के ही कारण होता है ।।६७।।]

६८

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।६८।।

६९

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।६९।।

७०

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।७०।।

[जैसे स्वप्नमय जीव उत्पन्न भी होता है, मरता भी है, जैसे मायामय जीव उत्पन्न भी होता है, मरता भी है, उसी प्रकार ये सभी जीव (उत्पन्न) होते हैं और फिर नहीं रहते हैं। जैसे मन्त्र-बल आदि से निर्मित जीव उत्पन्न भी होता है, मरता भी है, इसी प्रकार ये सभी जीव (उत्पन्न) होते हैं और फिर नहीं रहते हैं ।।७०।।]

७१

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत् तद् उत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ।।७१।।

[किसी जीव का जन्म नहीं होता, इस की कोई सम्भावना नहीं। यही उत्तम सत्य है कि कहीं कुछ जन्म नहीं ग्रहण करता ।।७१।।]

७२

चित्तस्पन्दितं एवेदं ग्राह्यग्राहकवद् द्वयं ।
चित्तं निर्विषयं नित्यं असंगं तेन कीर्तितं ।।७२।।

[यह जो ग्राह्य ग्राहक का द्विभाव है, यह केवल चित्त-स्पन्दन मात्र ही है। इसलिये चित्त को निर्विषय, नित्य तथा असंग कहा गया है ।।७२।।]

७३

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्ति असौ ।
परतन्त्रोऽभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ।।७३।।

[जिसका अस्तित्व कल्पित है, जो संवृति-सत्य मात्र है, उसका पारमार्थिक (=तात्विक) अस्तित्व नहीं ही है। जिसका अस्तित्व परतंत्र है संवृति-मात्र है, उसका पारमार्थिक (=तात्विक) अस्तित्व नहीं है ।।७३।।]

७४

अजः कल्पित संवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।
परतन्त्रोऽभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ।।७४।।

[जो 'अज' कहा जाता है, वह भी 'कल्पित' है, वह भी 'संवृति' है, परमार्थ से, तात्विक-दृष्टि से वह 'अज' भी नहीं। क्योंकि जो परतन्त्र है वह अभिनिष्पत्ति से, संवृति से जन्म ग्रहण करता है ।।७४।।]

७५

अभूताभिनिवेषोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्धवैव निर्निमित्तो न जायते ।।७५।।

[अविद्यमान (=अभूत) के प्रति आसक्ति (=अभिनिवेष) है, ग्राह्य-ग्राहक का द्विभाव वहां नहीं है। जब वह ग्राह्य-ग्राहक के द्विभाव के अभाव को जान लेता है, तो अभिनिवेष निमित्त (=कारण) रहित हो जाता है, और उसकी उत्पत्ति नहीं होती ।।७५।।]

७६

यदा न लभते हेतून उत्तमाधममध्यमान् ।
तदा न जायते चित्तं हेत्वाभावे फलं कुतः ।।७६।।

[जब उत्तम, अधम तथा मध्यम हेतुओं का अभाव हो जाता है तो चित्त की उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि हेतु का अभाव होने पर फल कहाँ ?।।७६।।]

७७

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया ।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद् यथा ।।७७।।

[इस कारिका का अर्थ अस्पष्ट है (अनु०) ।।७७।।]

७८

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथक अनाप्नुवत ।
वीतशोकं तदाऽकामं अभयं पदं अश्नुते ।।७८।।

[जब सत्य अनिमित्तता का बोध हो जाता है और चित्त का कोई पृथक हेतु नहीं रहता, तो वह शोक-रहित, कामना-रहित अभय पद को प्राप्त हो जाता है ।।७८।।]

७९

अभूताभिनिवेषाद्हि सदृशे तत प्रवर्तते ।
वस्त्वाभावं स बुद्ध्वैव निःसंगं विनिवर्तते ।।७९।।

[अविद्यमान (= अभूत) के प्रति अभिनिवेष होने से, उसके सदृश ही प्रवृत्ति होती है। जब वस्तु के (तात्विक) अभाव का बोध हो जाता है, तब चित्त निसंग होकर लौट आता है ।।७९।।]

८०

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत साम्यं अजं अद्वयं ।।८०।।

[जब चित्त एक बार (विषयों से) निवृत्त होकर फिर उन में प्रवृत्त नहीं होता तो वह निश्चल स्थिति कहलाती है। यह बुद्धों का विषय है—यह साम्य (-तत्व), यह अज-तत्व, यह अद्वय-तत्व ।।८०।।]

८१

अजं अनिद्रं अस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयं ।
सकृद् विभाति ह्येवैषा धर्मो धातुः स्वभावतः ।।८१।।

[अज (=जन्म-रहित), अनिद्र (=निद्रा-रहित), अस्वप्न (=स्वप्न-रहित), स्वयं प्रकाशमान, यह धर्म-धातु स्वभाव से ही (सदा के लिये) एक बार प्रकाशित होता है ।।८१।।]

८२—८४

सुखं आव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण; भगवान् असौ ।।८२।।
अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैर्वृणोत्येव बालिशः ।।८३।।
कोटयश्चतस्रेतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिर्अस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक ।।८४।।

[जिस किसी धर्म (=चित्त-विषय) को (आसक्ति-पूर्वक) ग्रहण करने से ही सुख सदा उघड़ा रहता है और दुःख ढका रहता है; जो मुर्ख है वह भगवान् (निर्वाण) को स्थिर मानने के कारण 'अस्ति' (=है), चल मानने के कारण नास्ति (=नहीं है), स्थिर तथा चल दोनों मानने के कारण अस्ति-नास्ति (है—नहीं है), और दोनों का अभाव मानने के कारण नास्ति-नास्ति (नहीं है, नहीं है) कहकर ढकता है। इन चार कोटियों के आसक्ति-पूर्ण ग्रहण से भगवान् (निर्वाण) सदा ढका हुआ है। लेकिन वास्तव में वह इनसे अस्पृष्ट है। जिस ने यह सत्य देख (=जान) लिया है, वह सर्वदृक (=सर्वज्ञ) है ।।८२–८४।।]

८५

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदं अद्वयं ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किं अतः परमीहते ।।८५।।

[समस्त-सर्वज्ञता, ब्राह्मण्य-पद, अद्वय-भाव आदि-मध्यान्त-रहित भाव को प्राप्त कर, इस से बढ़कर और किस चीज की इच्छा करे ?।।८५।।]

८६

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वाद् एवं विद्वान् शमं व्रजेत ।।८६।।

[यह बुद्धिमानों (=विप्रों) की विनय (=नियम उपनियम) है, यही स्वाभाविक शान्ति कहलाती है, यही इन्द्रियों (=प्रकृति) का दमन करने से 'दम' कहलाती है। इसी प्रकार जानकर शान्ति को प्राप्त हो ।।८६।।]

८७—८८

स वस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकं इष्यते ।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकं इष्यते ।।८७।।
अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरं इति स्मृतं ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेय्यं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितं ।।८८।।

[जहाँ वस्तु भी है और संज्ञा (=उपलम्भ) दोनों हैं, ऐसे ज्ञान को लौकिक ज्ञान कहते हैं। जहाँ वस्तु नहीं, किन्तु संज्ञा (=उपलम्भ) मात्र है, ऐसे ज्ञान को 'शुद्ध लौकिक' कहते हैं। जहाँ न वस्तु है, न संज्ञा (=उपलम्भ) है, ऐसे ज्ञानको 'लोकोत्तर' कहते हैं। यह सदा बुद्धों द्वारा कहा गया ज्ञान तथा ज्ञेय विज्ञेय है ।।८७–८८।।]

८९

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयं ।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ।।८९।।

[क्रमशः त्रिविध ज्ञान और ज्ञेय का बोध हो जाने पर जो महा बुद्धिमान् हैं उन्हें स्वयं सर्वत्र सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है ।।९०।।]

९०

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयानतः ।
तेषां अन्यत्र विज्ञेयाद् उपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ।।९०।।

[जो हेय है, जो ज्ञेय है, जो प्राप्य है, जो पाक्य है—ये सब अग्रयान (=महायान) द्वारा जानने चाहिये। जो ज्ञेय (=विज्ञेय) है, उसे छोड़ कर शेष तीन का ही उपलम्भ (=संज्ञा) मानी गई है ।।९०।।]

९१

प्रकृत्याकाशवज् ज्ञेयाः सर्वधर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन् ।।९१।।

[सभी धर्म (=चित्त-विषय, पदार्थ) अनादि हैं। उन्हें स्वभाव से ही आकाशवत जानना चाहिये। उनका कहीं भी, कुछ भी नानात्व नहीं है ।।९१।।]

९२

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ।।९२।।

[प्रकृति से ही सभी धर्म (= चित्त-विषय, पदार्थ) आदि-ज्ञान में (?) ही सुनिश्चित हैं। जिस के मत में ऐसी शान्ति है, वह अमृत के योग्य है ।।९२।।]

९३

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदं ।।९३।।

[जितने भी धर्म (= चित्त-विषय, पदार्थ) हैं वे आदि से ही शान्त हैं, अनुत्पन्न हैं; प्रकृति से ही सुनिर्वृत हैं; समान हैं; अज (= अजन्मा) हैं, समान-भाव युक्त हैं तथा विशारद (= निर्भय) हैं ।।९३।।]

९४

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाह पृथग्वादास्तस्मात् ते कृपणाः स्मृताः ।।९४।।

[जो सदा भेद-भाव में ही विचरते रहते हैं, उन में वैशारद्य (= पण्डित-भाव) नहीं है। जिनका वाद पृथकभाव को लिये है, वे भेद-भाव की ही ओर झुके हुए हैं। इस लिये वे 'दयनीय' कहे गये हैं ।।९४।।]

९५

अजे साम्ये तु ये केचिद् भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ।।९५।।

[जो अज (= अजन्मा) है, जो विषमता-रहित (= साम्य) है, उसके विषय में जो निश्चित हो जाते हैं, वे ही इस लोक में महान् ज्ञानी हैं। सामान्य-जनों की गति नहीं है ।।९५।।]

९६

अजेषु अजं असंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानं इष्यते ।
यतो न क्रमते ज्ञानं असंगं तेन कीर्तितं ।।९६।।

[यह मान लिया गया है कि उत्पत्ति-रहित धर्मों तक उत्पत्ति-रहित ज्ञान का संक्रमण नहीं होता। क्योंकि ज्ञान का संक्रमण नहीं होता, इस लिये वह आसक्ति-रहित (= असंग) कहलाता है ।।९६।।]

९७

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असंगता सदा नास्ति किं उतावरणच्युतिः ।।९७।।

[जो अविद्वान है उसके मन में अणुमात्र भी भेद-भाव (= वैधर्म्य) उत्पन्न होने पर कभी भी असंगता (= निर्लेप-भाव) नहीं रहती, आवरणच्युति (= पर्दे के हटने) का तो क्या ही कहना ।।९७।।]

९८

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुद्धयन्ते इति नायकाः ।।

[जितने भी धर्म (= चित्त-विषय, पदार्थ) हैं, वे सभी प्रकृति से निर्मल हैं तथा कारण-रहित हैं । वे आदि से ही ज्ञानरूप (= बुद्धा) हैं वैसे ही निर्वाण (= मोक्ष) में इस बात को बुद्ध (= नायक) जानते हैं ।।९८।।]

९९

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।
सर्वधर्मास्तथा ज्ञानं नैतद् बुद्धेन भाषितं ।।९९।।

[जो बुद्ध हैं, जो शिक्षक हैं उनके अनुसार ज्ञान धर्मों (= चित्त-विषय, पदार्थों) तक संक्रमण नहीं करता । सभी धर्म (संस्कृत-धर्म+असंस्कृत धर्म) तथा ज्ञान—ये बुद्ध की (भी) वाणी के विषय नहीं अर्थात् ये स्वानुभव के ही विषय हैं ।।९९।।]

१००

दुदर्शं अतिगम्भीरं अजं शाम्यं विशारदं ।
बुद्ध्वा पदं अनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलं ।।१००।।

[इस पद का बोध प्राप्त करके जो दुदर्श है, जो अतिगम्भीर है, जो 'अज' है, जो विषमता-रहित है, जो विशारद (= निर्भयता-युक्त) है, जो नानात्व-विहीन है, हम (तथागत को वा इस पद को) यथाबल नमस्कार करते हैं ।।१००।।]

यह गौड़पादीय आगम-शास्त्र का 'अलात शान्ति' नामक
चौथा प्रकरण समाप्त हुआ ।

माण्डूक्य उपनिषद्

(१)

ओं इत्येतद् अक्षरं इदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यद् इति सर्वं ओंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तद् अप्योंकार एव।

[ओं यह अक्षर है। यह सब उसी का उपव्याख्यान है। भूत, वर्तमान, भविष्यत् यह सब ओंकार ही है। जो त्रिकालातीत है, वह सब भी ओंकार ही है।]

(२)

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायं आत्मा ब्रह्म सोऽयं आत्मा चतुष्पाद।

[यह सब ब्रह्म है, आत्मा ब्रह्म है। यह आत्मा चतुष्पाद है।]

(३)

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्गो एकोनविंशतिमुखः स्थूल-भुग्वैश्वानरःप्रथमः पादः।

[पहला पाद वैश्वानर है, जाग्रत अवस्था में क्रियाशील, बहिर्प्रज्ञ, सप्ताङ्ग उन्नीस-मुख; स्थूल-भोगी।]

(४)

स्वप्नस्थानोन्तःप्रज्ञः सप्तङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक तैजसो द्वितीयः पादः।

[दूसरा पाद 'तैजस' है, स्वप्नावस्था में क्रियाशील, अंतःप्रज्ञ, सप्ताङ्ग, उन्नीसमुख, सूक्ष्म-भोगी।]

(५)

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत सुषुप्तं सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक चेतो मुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

[जब सोया हुया (आदमी) कोई कामना नहीं करता और कोई स्वप्न भी नहीं देखता, वह सुषुप्ति (–अवस्था) है।]

[तीसरा पाद 'प्रज्ञा' है। वह सुषुप्ति में स्थित रहता है, वह एकीभूत है, वह प्रज्ञा-घन है, वह आतन्दमय है, वह आनन्दभोगी है, वह चित्त-मुख है।]

(६)

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्य एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानां ।

[यही सर्वेश्वर है । यही सर्वज्ञ है। यही अन्तर्यामी है। यही सब की योनि (= मूल) है, यही प्राणियों की उत्पत्ति और विनाश है।]

(७)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं अदृष्टं अव्यवहार्यं अग्राह्यं अलक्षणं अचिन्त्यं अव्यपदेश्यं एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमम् शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते । स आत्मा स विज्ञेयः ।

[न अन्तः-प्रज्ञ, न बही-प्रज्ञ, न उभय-प्रज्ञ, न प्रज्ञा-घन, न प्रज्ञा न अप्रज्ञा, अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य (= अपरिभाष्य), एकात्मभाव का सार, प्रपञ्च (= वाणी द्वारा अभिव्यक्ति) का उपशमन, शान्त, शिव, अद्वैत-यह चौथा पाद माना जाता है । वह आत्मा है। वह विज्ञेय है ।]

(८)

सोऽयं आत्माऽध्यक्षरं ओंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ।

[वही यह आत्मा अक्षर तथा मात्रा की दृष्टि से ओंकार है। पाद मात्रा हैं और मात्रा पाद; और वे हैं अ, उ, म ।]

(९)

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद् वाप्नोति ह वै सर्वान्कामान् आदिश्च भवति य एवं वेद ।

[जाग्रत अवस्था में (क्रिया शील) वैश्वानर पहली मात्रा 'अ' है, आप्ति (= प्राप्ति) के कारण अथवा प्रथम होने के कारण । जो यह जानता है, उसकी सब कामनायें पूरी होती हैं और वह प्रथम होता है ।]

(१०)

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षाद् अभयत्त्वाद् वोत्कर्षतीह वैज्ञानसन्तति समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित् कुले भवति य एवं वेद ।

[स्वप्नावस्था में (क्रिया-शील) 'तैजस' दुसरी मात्रा 'उ' है, उत्कर्ष के कारण अथवा दो के मध्यस्थ होनेके कारण । निश्चय से ज्ञान-सन्तति का उत्कर्ष होता है, वह समान होता है । जो यह जानता हैं उस का जन्म अब्रह्मविद् कुल में नहीं होता ।]

(११)

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेर्अपीतेर्वामिनोति ह वा इदं सर्वं अपीतिश्च भवन्ति य एवं वेद ।

[सुषुप्तावस्था में (क्रिया-शील) 'प्राज्ञ' तीसरी मात्रा 'म' है, मापने के कारण तथा नीचे जानेके कारण । जो यह जानता है वह यह सब मापता है, और उस में लय हो जाता है ।]

(१२)

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवं ओंकार आत्मैव । संविशत्य आत्मनात्मानं य एवं वेद ।

[चौथा पाद अमात्र है, अव्यवहार्य है, वाणी (की अभिव्यक्ति का) शमन-स्वरूप, शिव, अद्वैत । इस प्रकार 'ओंकार' ही आत्मा है । जो यह जानता है वह 'आत्मा' से 'आत्मा' में प्रविष्ट होता है ।]

इति माण्डूक्योपनिषत् समाप्त ।